Chapter. 2

===

: द्वितीय अध्याय :

: प्रेमचन्द तथा जैनेन्द्र के उपन्यासों का कथ्य :

===

WONDER

:: द्वितीय अध्याय ::

:: प्रेमचन्द तथा जैनेन्द्र के उपन्यासों का कथ्य ::

प्रास्ताविक :

प्रस्तुत प्रबंध का प्रतिपाद्य प्रेमचन्द तथा जैनेन्द्र के उपन्यासों में जो नारी-पात्र उपलब्ध होते हैं उनका तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करना है । उनमें क्या समानताएं , क्या विषमताएं हैं , उनका परिवेश क्या है , शिक्षा क्या है जैसे मुद्दों की पड़ताल यहां हो सकती है । संक्षेप में दोनों महान कथाकारों में नारी-चित्रण किस प्रकार का है , उनका चरित्र-चित्रण कैसे हुआ है , उसे वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का एक विनम्र उपक्रम है । उपन्यास के जो तत्त्व बताए गए हैं उनमें भी एक वैज्ञानिक क्रमिकता है ।

उपन्यास कथा-साहित्य का प्रकार है । अतः कथावस्तु या कथानक या उसका कथ्य उपन्यास का एक मूलभूत बुनियादी तत्व है । उस पर ही उपन्यास का सारा शिल्प खड़ा होता है । वस्तुतः पूछा जाए तो यह तत्व उपन्यास में रीढ़ की हड्डी का काम देता है । जैसे बिना रीढ़ की हड्डी के मनुष्य लुंजपुंज हो जाता है, ठीक उसी तरह बिना कथावस्तु के भी उपन्यास का गुजारा नहीं । आजकल कुछ ऐसे उपन्यास उपलब्ध होने लगे हैं, जिनमें कथावस्तु का तत्व बहुत सूक्ष्म होता है, उसका स्रोत बहुत ही क्षीण होता है । परन्तु इतना तो असंदिग्धतया कहा जा सकता है कि क्षीण ही क्यों न हो, पर कथानक का होना आवश्यक है । यहाँ हम उभय कथाकारों के उपन्यासों के कथ्य पर बहुत संक्षेप में एक विहंगम प्रकार का दृष्टिपात करना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि पात्र भी कथावस्तु की निपज होते हैं । कथा ही पात्रों का निर्माण करती है । कई बार पात्र भी कथा को एक नया मोड़ दे देते हैं । कोई व्यक्ति जिस प्रकार का है, वह यदि उस प्रकार का न हो तो शायद कथा दूसरे प्रकार प्रकार की भी हो सकती है । रावण का चरित्र यदि दूसरे प्रकार का होता तो क्या रामायण की कथा उस तरह की होती जैसी आज है । अभिप्राय यह कि ये दोनों तत्व परस्परावलंबित हैं । वस्तु पात्र का निर्माण करते हैं और पात्र घटनाओं को मोड़ते चलते हैं । अतः इस अध्याय को हमने दो शीर्षकों के अंतर्गत विभक्त किया है — {अ} प्रेमचन्द के उपन्यासों का कथ्य, और {ब} जैनेन्द्र के उपन्यासों का कथ्य ।

{अ} प्रेमचन्द के उपन्यासों का कथ्य

प्रेमचन्द के उपन्यासों में सेवासदन, वरदान, प्रतिज्ञा, निर्मला, गबन, प्रेमाश्रम, कायाकल्प, कर्मभूमि, रंगभूमि, गोदान, मंगलसूत्र {अपूर्ण} प्रभृति उपन्यासों के कथ्य को क्रमशः

प्रस्तुत किया गया है ।

(1) सेवासदन :

"सेवासदन " प्रथमतः उर्दू में "बाजारे हुस्न " के रूप में लिखा गया था , परन्तु प्रकाशित पहले हिन्दी में हुआ सन् 1918 में । [1] इस उपन्यास से प्रेमचन्दजी की सौमुखी सूक्ष्मग्राही दृष्टि का परिचय हिन्दी जगत को सर्वप्रथम होता है । उसमें निरूपित समस्या "वेश्या-समस्या " है , किन्तु उसका मूल कहाँ-कहाँ जुड़ा है , उसे यहाँ हम देख सकते हैं ।

कहानी संक्षेप में यह है कि कृष्णचंद्र एक ईमानदार अकेले थानेदार हैं । अन्य पुलिसवालों की तरह घूस नहीं लेते । उनके दो लड़कियाँ हैं — सुमन और शान्ता । शान्ता विवाह-योग्य हो जाती है , तब कृष्णचन्द्र उसके योग्य वर की खोज में लगते हैं । यहाँ उन्हें ज्ञात होता है कि यह काम वे जितना समझते थे उतना सरल नहीं था । सुमन गुणवान और रूपवान थी । दूसरे वे सोचते थे कि एक ईमानदार पुलिस आफिसर होने के कारण समाज में उनकी जो इज्जत है उससे सुमन के रिश्ते के लिए कोई भी कुलीन खानदान का व्यक्ति तैयार हो जायेगा । परन्तु यहाँ उनका मोहभंग होता है । रिश्तों के बाज़ार में ईमानदारी की नहीं "कलदार" की तूती बोलती है । उन्हें लोगों की तरह-तरह की बातें सुननी पड़ती हैं । एक महाशय कहते हैं — " दारोगाजी, मैंने लड़के को पाला है । सहस्रों रुपये उसकी पढ़ाई में खर्च किए हैं । आपकी लड़की को इससे इतना ही लाभ होगा जितना मेरे लड़के को । तो आप ही न्याय दीजिए कि वह सारा भार मैं अकेले कैसे उठा सकता हूँ ? " [2]

फलतः लड़की को किसी अच्छे घर में ब्याहने के चक्कर में दारोगाजी एक रिश्वत के मुकदमे में फंस जाते हैं । रिश्वत लेना भी एक कला है । उसमें वे माहिर न थे । चूक हो गई और पकड़े गये । एक गुजराती व्यंग्य कविता का भावार्थ कुछ ऐसा है — " काँटे से काँटा निकलता है ; पकड़े गये रिश्वत लेते , रिश्वत देकर छूट गये ! " पर कृष्णचन्द्र के पास इसके लिए भी पैसे कहाँ थे ? अतः पाँच साल की जेल हो गई । दहेज के अभाव में सुमन का ब्याह गजाधर नामक एक अधम व्यक्ति से हो जाता है ।

गजाधर के साथ सुमन सुख से नहीं रह पाती । रातदिन झगड़ होती रहती थी । एक दिन गजाधर सुमन को घर से बाहर निकाल देता है । पति द्वारा त्याग दिए जाने पर हमारा सभ्य, कुलीन , उच्च समाज उसे कोई सहारा नहीं देता । उसे सहारा मिलता है भोली नामक वेश्या के कोठे पर । उसके बाद कुछ समाजसेवी लोग उसे वहाँ से एक आश्रम में पहुँचाते हैं । सुमन की बहन शान्ता का विवाह भी सुमन की खराब छवि के कारण नहीं हो पाता । बारात लौट जाती है । जेल से छूटने के बाद कृष्णचन्द्र को ज्ञात होता है कि सुमन वेश्या हो गई थी, तो वे गंगा में डूबकर आत्महत्या कर लेते हैं । शान्ता की शादी सदनसिंह से होनेवाली थी । वह नये-आज़ाद ख्यालों का युवक था । उसे पिता द्वारा बारात लौटा ले जाना अच्छा नहीं लगा । अतः वह घर छोड़कर मल्लाह हो जाता है । उसके बाद वह शान्ता से विवाह भी कर लेता है । उधर आश्रम से भी सुमन को निकलना पड़ता है । कुछ दिन वह सदन और शान्ता के पास रहती है । परन्तु वहाँ भी लोग उसे शांति से नहीं रहने देते । तब वह आत्म-हत्या के विचार से गंगा में डूबने जाती है । वहाँ उसकी भेंट गजाधर से होती है जो अब स्वामी गजानंद हो गया था । सुमन के वेश्या हो जाने पर उसे बहुत पश्चाताप हुआ था और उसी कारण वह

साधु हो गया था । उसकी ही प्रेरणा से सुमन सेवाश्रम का कार्य संभालने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेती है ।

यों तो यह कहानी एक फार्मूला टाइप कहानी लगती है । किन्तु लेखक की सूक्ष्म, पैनी निगाह ने उसमें अनेक सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं को अनुस्यूत कर दिया है । उदाहरणतया वेश्या-समस्या के उक्त के संदर्भ में उपन्यास का एक पात्र कुंवर अनिरुद्धसिंह के विचार द्रष्टव्य है :—

" हमारे शिक्षित भाइयों की ही बदौलत दालमण्डी आबाद है । चौक में चहल-पहल है । गलियों में रौनक है । यह मीनाबाज़ार हम लोगों ने ही सजाया है । ये चिड़ियां हम लोगों ने ही फांसी है । ये कठपुतलियां हमने ही बनाई है । जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर व सम्मान के पात्र हों वहां दालमण्डी क्यों न आबाद हो । हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहां जा सकता है । जिस दिन नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अंत होगा, उसी दिन दालमण्डी उजड़ जाएगी ।" 3

यहां कुंवर साहब के शब्दों में मानो प्रेमचन्द ही बोल रहे हैं । समस्या-दर-समस्या की एक शृंखला यहां दृष्टिगत हो रही है ।

[2] वरदान :
===========

"वरदान" का हिन्दी में प्रकाशन सन् 1920 में हुआ, अर्थात "सेवासदन" के पश्चात, किन्तु उसका उर्दू में प्रकाशन "जलवा-ए-ईसार" नाम से सन् 1912 में हो चुका था । 4 इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी ने अनमेल-विवाह की समस्या को उठाया है । प्रतापचन्द्र और विरजन एक-दूसरे को प्रेम करते थे । किन्तु

उनका प्रणय परिणय में परिणत न हो सका । कारण आर्थिक विषमता और गरीबी । आर्थिक विषमता के कारण ही प्रतापचन्द्र जैसे सुयोग्य , मेधावी और गुणवान युवक से विरजन का विवाह नहीं होता है और वह कमलाचरण जैसे एक दुश्चरित्र , कुसुमबाज , पतंगबाज , आवारा लड़के के साथ ब्याह दी जाती है क्योंकि उसका पिता डिप्टी श्यामाचरण एक धनी-संपन्न व्यक्ति थे । वस्तुतः हमारे यहाँ शादी-ब्याह में गुण नहीं पैसा देखा जाता है , जिसके कारण अनेक विरजनों को भी अकारण-असमय वैधव्य का शिकार होना पड़ता है । प्रारंभिक उपन्यास होने के कारण प्रस्तुत उपन्यास में चरित्र-चित्रण से संबंधित अनेक कमजोरियाँ पाई जाती हैं । इस संदर्भ में डा. पारूकान्त देसाई ने कहा है —

" लेखक जिस पात्र को उठाता है उसका कल्पनातीत विकास अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है । प्रतापचन्द्र पढ़ने में , वक्तृत्व में , खेल में , सभी में अव्वल रहता है । दो घण्टे में वह साढ़े तीन सौ रन बना देता है । यही प्रतापचन्द्र बाद में देखते ही देखते बालाजी के रूप में विश्व-विख्यात हो जाता है । विरजन भी अपेक्षाकृत कम समय में विदुषी एवं कवयित्री हो जाती है । उसकी कविताओं की चर्चा विदेशों तक में होने लगती है । वस्तुतः यह उनकी प्रारंभिक आदर्शवादी रोमेण्टिक दृष्टि के कारण हुआ है । " 5

किन्तु उनकी यह कमजोरी मुख्य पात्रों में दिखती है । गौण पात्रों की सामाजिकता का चित्रण यथार्थ की भूमि पर स्थित है । मुंशी शालीग्राम , सुवामा , मुंशी संजीवनलाल , डिप्टी श्यामाचरण , सुशीला , प्रेमवती आदि चरित्र जीवन्त बन पड़े हैं । प्रेमचन्द की समाजलक्षी सूक्ष्म दृष्टि का सही परिचय यहाँ उपलब्ध होता है । निरालाजी ने ठीक ही कहा था-
"आँखि कानो के पास आय तो याहि के पास आय " । 6

अर्थात् आँखें अगर किसीके पास हैं तो इसीके (प्रेमचन्द के) पास है।

उपन्यास की कथावस्तु संक्षेप में इस प्रकार है : प्रतापचन्द्र और विरजन का विवाह न होना, आधारहीनों के कारण कमलाचरण की एक अकस्मात् में मौत, विरजन का वैधव्य, उसे उस रूप में देखकर प्रताप का संन्यासी हो जाना, देशसेवा के काम में समर्पित हो जाना, बालाजी के रूप में विख्यात होना, प्रताप की माँ उसे विवाहित रूप में देखना चाहती थी, विरजन की एक सखी माधवी बालाजी से प्रभावित थी और उनसे विवाह भी करना चाहती थी, विरजन द्वारा प्रोत्साहित, बालाजी से भेंट, उसकी कहानी सुनकर बालाजी भी सहमत, किन्तु ऐन वक्त पर माधवी के विचारों का बदल जाना और संन्यास लेकर योगिनी हो जाना। इस प्रकार कथा-संघटन की दृष्टि से भी यह एक कमजोर औपन्यासिक कृति है।

(3) प्रतिज्ञा :

सन् 1906 में प्रेमचन्दजी का (तब नवाबराय का) "हमखुर्मा-ओ-हमसवाब" (प्रेमा) नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। वही उपन्यास थोड़े हेर-फेर के साथ सन् 1929 में "प्रतिज्ञा" नाम से प्रकाशित होता है। इस तरह यह उपन्यास भी अपने मूल में "सेवासदन" के पूर्व का उपन्यास है।[7] इस उपन्यास में इन्होंने विधवा-विवाह की समस्या को उठाया है। यह दौर स्वाधीनता आंदोलन के साथ-साथ समाजसुधारी आंदोलनों का दौर भी था। उनमें आर्यसमाज का आंदोलन प्रमुख था। अछूतोद्धार और विधवा-विवाह उनके दो मुख्य मुद्दे थे। अतः इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी ने इस मुद्दे को उभारा है। यह कहना न होगा कि प्रारंभ में प्रेमचन्दजी आर्य-समाज से प्रभावित थे।

संक्षेप में इसकी कहानी इस प्रकार है : अमृतराय और दान-नाथ परम मित्र हैं । ये दोनों प्रेमा को प्यार करते हैं । प्रेमा अमृत की साली है । अमृत की पत्नी की मृत्यु के उपरांत प्रेमा की शादी अमृत से तय हो जाती है । दाननाथ इस आघात को चुपचाप बर्दाश्त कर लेता है । विधवा-विवाह पर एक भाषण के सुनने के बाद अमृत अपना इरादा बदलते हुए विधवाओं की सेवा में अपना जीवन व्यतीत करना चाहता है । वह विधवाओं को आश्रय देने हेतु एक आश्रम खोलता है । इधर प्रेमा के पिता उसका विवाह दाननाथ से कर देते हैं ।

प्रेमा की एक सहेली है पूर्णा । उसका पति वसंतकुमार होली के दिन भांग पीकर गंगा में स्नान करने जाता है और नशे के कारण उसमें डूबकर मर जाता है । पूर्णा विधवा हो जाती है और वह बद्रीप्रसाद के यहां रहने लगती है । सुमित्रा प्रेमा की भाभी है । उसका पति कमलाप्रसाद दुराचारी और नीच प्रकृति का है । वह पूर्णा पर डोरे डालता है और एक दिन मौका पाकर बलात्कार की कोशिश करता है । वह उसे कुर्सी मारकर भाग जाती है और अमृतराय के आश्रम में जाकर रहने लगती है । उपन्यास के अन्त में कमलाप्रसाद भी सुधर जाता है और वह अपनी नीचता छोड़कर एक भले मानुस का जीवन बिताने लगता है । विधवा-समस्या पर लिखते हुए भी यहां प्रेमचन्द पूर्णा का विवाह नहीं करवाते और उसे विधवाश्रम पहुंचा देते हैं । वस्तुतः प्रेमचन्द की वस्तुवादी दृष्टि यह बराबर देख रही थी कि समझदार-शिक्षित लोगों में विधवाओं के प्रति दृष्टिकोण कुछ-कुछ बदल रहा था , परन्तु उस समय भी विधवाओं के विवाह नहीं हो रहे थे । उपन्यास का रचना-काल सन् 1906 का है , उसका विस्मरण नहीं होना चाहिए । प्रारंभिक दौर का उपन्यास होने के कारण यह भी औपन्यासिक कला की दृष्टि से अपरिपक्व है ।

(4) निर्मला :

"निर्मला" वह उपन्यास है जो प्रेमचन्दजी ने सीधे हिन्दी में लिखा है। इसके पूर्ववर्ती उपन्यास पहले उर्दू में लिखे गये और बाद में हिन्दी में आये। इसका प्रकाशन सन् 1926 का है। इसे हम नारी जीवन की महान त्रासदी कह सकते हैं। इस उपन्यास के संदर्भ में डा. पारुकान्त देसाई लिखते हैं —

" "निर्मला" में लेखक ने नारी जीवन को नरक बनानेवाली एक भयंकर समस्या — दहेज समस्या तथा उसके फलस्वरूप अनमेल विवाह को चित्रित किया है। दहेज-प्रथा हिन्दू समाज का महान कलंक है। इसके कारण लाडों में पली अरमान-भरी कोमल कलिका-सी षोडशवर्षीया निर्मला की शादी तीन बच्चों के अधेड़ पिता मुंशी तोताराम से हो जाती है जो कामशास्त्र की पुस्तकों को पढ़कर तथा मित्रों की सलाह से छैला बनने के प्रयत्न में हास्यास्पद बन जाता है। उसका बड़ा लड़का मंसाराम निर्मला का हमउम्र है। शंका-कुशंका [illegible] तथा क्लेश के वातावरण में दो परिवार नष्ट हो जाते हैं। "आँचल में है दूध और आँखों में पानी " वाली नारी हमें "निर्मला" के रूप में मिलती है। "सुमन" और "निर्मला" एक ही समस्या के शिकार हैं, किन्तु दोनों की परिणति भिन्न ढंग से हुई है। समस्या की एकोन्मुखता तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण "निर्मला" प्रेमचन्दजी का एक सुसंगठित उपन्यास है। नारी-त्रासदी के संदर्भ में वह "नारी" (सियारामशरण गुप्त) तथा "त्यागपत्र " (जैनेन्द्र) से तुलनीय है।

उपन्यास की कथा संक्षेप में इस प्रकार है : वकील उदयभानु अपनी प्यारी-लाडली बेटी निर्मला विवाह एक डाक्टर लड़के से करना चाहते थे, किन्तु वकील साहब की अकस्मात

हत्या के कारण निर्मला के सारे सपनों पर तुषारापात हो जाता है और दहेज के अभाव में उसकी शादी वकील तोताराम से हो जाती है जो उम्र में एक तरह उसके पिता के बराबर है । तोताराम के तीन लड़के हैं — मंसाराम , जियाराम और सियाराम । मंसा-राम निर्मला का हमउम्र है । निर्मला उसे चाहती है । परंतु शंकालु पिता मंसाराम के पवित्र प्रेम को खराब दृष्टि से देखता है । उसके कारण वह मंसाराम को होस्टेल भेज देते हैं । तोताराम के सामने निर्मला का व्यवहार मंसा के प्रति कुछ कटुता लिए रहता है । मंसा निर्मला के इन दो रूपों को देखकर दंग रह जाता है । उसे भी निर्मला से वितृष्णा हो जाती है , परंतु जब उसे अपने पिता की शंकालु दृष्टि का पता चलता है , तब तो उसपर आसमान ही टूट पड़ता है और उस आघात में घुलकर वह मर जाता है ।

निर्मला xxxxxx पर इस घटना का बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है और वह बुझी-बुझी सी रहने लगती है । जियाराम उद्दंड हो जाता है और चोरी करने लगता है । एक बार वह निर्मला के गहने चुराता है और भेद खुल जाने पर मारे शर्म के आत्महत्या कर लेता है । इस बीच में निर्मला के एक लड़की होती है । लड़की के जन्म के बाद निर्मला एक-एक पैसे को दांतों से पकड़ती है और सौदा-सुलफ के मामले में सबसे छोटे xxxxxx सियाराम से रात-दिन चकमक करती रहती है, अतः वह भी ऊबकर एक दिन साधु-ओं की टोली के साथ चला जाता है । तोताराम अब सारी मुसीबतों की जड़ निर्मला को ही समझता है , अतः उससे लड़कर बेटे की खोज में निकल पड़ता है । घर में रह जाते हैं केवल तीन प्राणी — निर्मला , उसकी बच्ची और निर्मला की विधवा ननद रुक्मणी । रुक्मणी पहले तो निर्मला को नापसंद करती थी , परन्तु जब निर्मला पर दुःखों के पहाड़ टूट पड़ते हैं , तब धीरे-धीरे उसकी संवेदना निर्मला के प्रति जगने लगती है ।

पहले जिस लड़के से निर्मला की सगाई तय हुई थी वह डाक्टर है । उसकी पत्नी निर्मला की सहेली बन जाती है । उसके घर निर्मला का आना-जाना रहता है । एक दिन जब सहेली नहीं थी , निर्मला की भेंट डाक्टर से होती है । वह निर्मला से प्रेम जताता है । निर्मला को यह हरकत पसंद नहीं आती और जब उसकी सहेली को इस बात का पता चलता है तब वह भी अपने पति को बुरा भला-बुरा सुनाती है । डाक्टर आत्महत्या कर लेता है । उसके बाद निर्मला भी बीमार पड़ जाती है और अन्ततः अपनी बेटी रुक्मणी के हवाले कर इस फानी दुनिया को छोड़ जाती है । ऐन चिता को आग देने के वक्त तोताराम आ पहुंचता है । आखिरी समय में निर्मला रुक्मणी को जो बात कहती है वह दिल की गहराइयों से निकली है और समाज को बहुत कुछ कह जाती है । यथा --

" दीदीजी , अब मुझे किसी वैद्य की दवा फायदा न करेगी । आप मेरी चिन्ता न करें । बच्ची को आपकी गोद में छोड़े जाती हूं । अगर जीती-जागती रहे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा । मैं तो इसके लिए अपने अपने जीवन में कुछ कर न सकी । केवल जन्म भर देने की अपराधिनी हूं । चाहे क्वांरी रखिएगा , चाहे विष देकर मार xxxx डालिएगा , पर कुपात्र के गले न xxxx मढ़िएगा , इतनी ही आपसे विनय है ।" [8] यही मानों लेखक का भी संदेश है ।

(5) गबन :
==========

" xxxx xxxx गबन " सन् 1907 में मूल "चिड़ना" शीर्षक से उर्दू में प्रकाशित हुआ था । [9] हिन्दी में उसका प्रकाशन सन् 1930 में हुआ । "गबन" का अर्थ है सरकारी खजाने से पैसे

चोरी करना । "निर्मला" की भाँति यह भी वस्तु-गठन की दृष्टि से उल्लेखनीय उपन्यास है । स्त्रियों के आभूषण प्रेम , मध्यवर्गीय झूठी शान तथा पुलिस के हथकण्डों का बड़ा ही सुंदर चित्रण इस उपन्यास में हुआ है । मध्यवर्ग का जितना सटीक वर्णन इस उपन्यास में हुआ है , अन्यत्र शायद ही कहीं मिले ।

उपन्यास की मुख्तसर-सी कहानी यह है : दयानाथ एक ईमानदार सरकारी मुलाज़िम हैं । अपरी आमदनीवाली जगह होने पर भी कभी रिश्वत नहीं खायी । बेटे रमानाथ की शादी में हैसियत से ज़्यादा खर्च करने पर कर्ज़ हो गया । शादी के बाद लेनदारों के तकाजे बढ़ गये । इधर जालपा जिससे रमानाथ की शादी हुई थी , संतुष्ट नहीं थी , क्योंकि शादी में उसे चन्द्रहार न मिला था जिसका उसे बचपन से ही शौक था । रमानाथ उसके सामने अपने घर की सही स्थिति की बात कभी नहीं करता, उल्टे अपने शानो-शौकत की डींगें मारता रहता है । दयानाथ और रमानाथ जालपा के गहने बेचकर कर्ज़ चुकाने की बात तय करते हैं , परन्तु रमानाथ में जालपा से यह कहने का साहस नहीं । अतः तय होता है कि रमानाथ जालपा के गहनों को चुरा लायेगा और फिर गहने चोरी हो गये ऐसा कह दिया जायेगा । गहने के चले जाने से जालपा बहुत दुःखी-दुःखी सी रहती है ।

इधर रमानाथ की म्युनिसिपालिटी चुंगी में नौकरी लगती है । अतः सर्राफ के यहाँ से उधार पर वह कुछ गहने ले आता है । उसका विचार था कि थोड़ा-थोड़ा करके चुका कर देगा , किन्तु मध्यवर्गीय दिखावे की प्रवृत्ति के कारण वह उसमें निश्चित नहीं रह पाता । जालपा की एक सहेली है —रतन । वह हाईकोर्ट के एडवोकेट की पत्नी थी । जालपा के बहुत जड़ाऊ कंगन उसे पसंद आ जाते हैं । वह तुरंत छः सौ रुपये ऐसे कंगन बनवाने के लिए जालपा को दे देती है । रमानाथ वे रुपये

सर्राफ को पुराना कर्ज चुकता करने के लिए दे देता है और जड़ाऊ कंगन बनवाने के लिए कहता है , किन्तु सर्राफ को अब रमानाथ पर विश्वास नहीं बैठता है और वह पुराने कर्ज में वह रकम काट लेता है और नये गहनों के लिए मना कर देता है । इधर रतन के तगादे बढ़ने लगते हैं । कुछ दिन तो वह टालमटोल करता रहता है, पर एक दिन रतन आकर कह देती है कि अगर कंगन न बने हों तो वह उनके रुपये लौटा दें । रमानाथ यह सोचकर कि एक बार यदि रतन को रुपये दिखा देंगे तो उसे विश्वास हो जायेगा और कुछ दिनके लिए उसका ढाढस बंध जायेगा , चुंगी से रुपये उठा लाता है । उसका विचार था कि दूसरे दिन वह जमा करा देगा तो किसीको पता भी नहीं चलेगा ।

रमानाथ की अनुपस्थिति में रतन आती है और जालपा गुस्से में रुपये उसके मुंह पर दे मारती है । रमानाथ की जान सांसत में आती है और वह जालपा के नाम एक पत्र लिखता है । वह जालपा को उस पत्र को पढ़ते देख लेता है और सामना करने की हिम्मत न होने से भाग खड़ा होता है । इधर जालपा गहने बेचकर चुंगी में पैसे जमा करा देती है और अपने पति की इज्जत को बचा लेती है ।

फिर घटनाक्रम तेजी से गुजरता है । रमानाथ का ट्रेन में देवीदीन खटीक से मिलना , उनके साथ कलकत्ते पहुंचना , उनको अपनी कहानी सुनाना , देवीदीन के दो बेटे आजादी की लड़ाई में शहीद हो गये थे ; उन लोगों की सब्जी की दूकान , बेटे की तरह उनका पालना , एक दिन ड्रामा देखकर लौटते समय पुलिस को देखकर चौंक पड़ना , पुलिस को शक हो जाना , पकड़कर थाने ले जाना , वहां गबन की बात कहना , पुलिस इलाहाबाद जांच करवाना , सच्चाई का पता चलना , फिर भी उसे हिरासत में रखना , स्थिति से फायदा उठाने का विचार , क्रान्तिकारियों

के खिलाफ झूठे मुकदमे में पुलिस द्वारा सरकारी गवाह के रूप में उसका इस्तेमाल , किसी कसौटी या पहेली के जरिये जालपा का कलकत्ते में रमानाथ का ढूंढ निकालना , देवीदीन की रमानाथ के प्रति नफरत, रतन के पति का बीमार होना , कलकत्ता इलाज के लिए जाना, वहाँ उसकी मौत , रतन का विधवा हो जाना , रमानाथ की झूठी गवाही के कारण क्रान्तिकारियों को सजा , एक बूढ़े क्रान्तिकारी की बूढ़ी माँ की सेवा में जीवन बिताने का जालपा का निर्णय , एक वेश्या जोहरा की सहायता से रमानाथ का उस कुचक्र से बाहर निकलना , जज से मिलकर सारी बात का खुलासा करना , मुकदमे की हाईकोर्ट में दुबारा सुनवाई , क्रान्तिकारियों की रिहाई , रमानाथ जालपा और उसके पिता द्वारा गंगा तट पर खेती करना, जोहरा का गंगा की तेज धारा में बहकर मर जाना जैसी घटनाओं का चित्रण उपन्यास में हुआ है ।

इस प्रकार उपन्यास का अन्त लेखक ने आदर्शवादी कर दिया है , किन्तु बुर्जुवा मध्यवर्ग की तमाम कमजोरियों को उकेरने में उपन्यास बहुत ही सक्षम रहा है । [10]

§6§ प्रेमाश्रम :

"प्रेमाश्रम" का प्रकाशन सन् 1922 में हुआ था । इस उपन्यास के बाद ही प्रेमचन्दजी को उपन्यास-सम्राट कहा जाने लगा था । कुछ विद्वानों के अभिमत से यह हिन्दी का प्रथम राजनीतिक उपन्यास है । "किसानों एवं जमींदारों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं संघर्षों को रेखांकित करने वाला एक बहुकथाआयामी उपन्यास "प्रेमाश्रम " है । उसमें ग्रामीण एवं नागरिक जीवन के नाना स्तरों एवं व्यवसायों का तथा उनकी टकराहट का व्यापक चित्रण हुआ है । " [11]

उपन्यास-साहित्य के प्रखर विद्वान डा. एस.एन. गणेशन ने प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में कहा है : " भारत की सामान्य जनता का जागरण और अपने हक के लिए लड़ाई भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का एक प्रमुख अंग है और इस जागरण पर लिखित प्रथम श्रेष्ठ उपन्यास के रूप में "प्रेमाश्रम" महत्वपूर्ण रचना है ।" [12]

यह भी एक दिलचस्प तथ्य है कि प्रेमचन्द के "सेवासदन" परवर्ती उपन्यासों के बीज हमें सेवासदन में ही मिल जाते हैं । प्रस्तुत उपन्यास के मनोहर और बलराज चेतु (सेवासदन) के ही विकसित रूप हैं जो जुल्म और अन्याय का प्रतिकार करते हैं । इस बृहद उपन्यास में सदियों से पददलित कृषक समाज , उसकी अज्ञानता, भीरुता , जमींदार और उसके कारिन्दों के अत्याचार तथा उसके उसके समाधान रूप में "हाजीपुर" जैसे आदर्श ग्राम और उसमें "प्रेमाश्रम " की स्थापना आदि को चित्रित किया गया है । उपन्यास के उत्तरार्द्ध की स्थापना प्रेमचन्दजी की आदर्शवादिता एवं तज्जनित अतिभावुकता के अनुरूप हुई है ।" [13]

यह लखनपुर गांव की कहानी है । प्रभाशंकर , ज्ञानशंकर , प्रेमशंकर , मायाशंकर , विद्यावती , गायत्री , विलासी, मनोहर , बलराज , ज्वालासिंह , गौसखां आदि इसके मुख्य पात्र हैं । लखनपुर गांव में ज्ञानशंकर और उसके चाचा प्रभाशंकर की जमींदारी थी । ज्ञानशंकर का भाई प्रेमशंकर कई सालों से लापता था । ज्ञानशंकर इस बात से प्रसन्न था कि उसे अब जमींदारी में उसे हिस्सा न देना पड़ेगा । ज्ञानशंकर बहुत ही स्वार्थी और लालची प्रकृति का है । चाचा प्रभाशंकर के परिवार में आठ प्राणी थे और उसके परिवार में तीन । अतः वह बंटवारा चाहता है । प्रभाशंकर कुछ-कुछ उदार स्वभाव के हैं और असामियों पर कुछ रियायत करना चाहते हैं । यह बात भी ज्ञानशंकर को अच्छी नहीं लगती । प्रभाशंकर का लड़का दयाशंकर जो दारोगा है,

तब ज्ञानशंकर बहुत प्रसन्न होता है और अपने सहपाठी मजिस्ट्रेट ज्वालासिंह से कहता है कि वह न्याय का पक्षपाती है ।

अंततः बंटवारा हो जाता है । ज्ञानशंकर के ससुर रायसाहब भी एक बड़े जमींदार हैं । जब उनका इकलौता पुत्र मर जाता है । तब वह ऊपरी तौर पर शोक जाहिर करने ससुराल जाता है , पर भीतर से बहुत प्रसन्न है क्योंकि उनकी जमींदारी भी अब उसके हिस्से में आयेगी । वहाँ उसकी भेंट उसकी छोटी साली गायत्री से होती है । वह विधवा हो गई है । गोरखपुर में उनकी भी एक बड़ी जमींदारी थी । अतः ज्ञानशंकर उस पर डोरे डालता है और उसके धार्मिक और भक्तिभावपूर्ण स्वभाव का लाभ उठाते हुए कृष्णलीला का स्वांग रचता है । वह कृष्ण बनता है और गायत्री राधा । ज्ञानशंकर चाहता है कि वह उसके प्रेम में फंसकर उसकी जमींदारी उसके पुत्र मायाशंकर के नाम कर दे । गायत्री उसकी बातों में आ जाती है और स्वयं को राधा समझकर उसे प्रेम करने लगती है , किन्तु ज्ञानशंकर की पत्नी विद्यावती , गायत्री की बहन , अपने पति की नीचता से भलीभांति परि-चित है । वह गायत्री को भ्रष्ट होने से बचा लेती है । अंत में गायत्री इन माया-जालों से त्रस्त होकर अपनी जमींदारी मायाशंकर के नाम कर देती है और स्वयं आत्म-हत्या कर लेती है । विद्यावती भी अन्ततः अपने पति की नीचता से तंग आकर आत्महत्या कर लेती है ।

चूंकि ज्ञानशंकर अपने ससुर रायसाहब की जायदाद को भी अपनी ही समझता था , अतः उनका कुछ अधिक खर्च करना उसे अखरता है । फलतः उनके भोजन में वह विष मिला देता है । रायसाहब को पहले ही कौर से पता चल जाता है । वे उसे खूब भला-बुरा कहते हैं और फिर जल्दी-जल्दी सारा खाना खाकर अपनी योगशक्ति से उसे पचा लेते हैं ।

ज्ञानशंकर का भाई प्रेमशंकर जो लापता था, अकस्मात् एक दिन आ धमकता है। वस्तुतः वह अमरिका गया था और वहाँ से उच्च-शिक्षा प्राप्त कर और नये विचारों के साथ वापिस लौटता है। उसे लौटा देखकर पहले तो ज्ञानशंकर की छाती पर साँप लोटने लगते हैं, परन्तु जब उसे ज्ञात होता है कि धन-सम्पत्ति के प्रति उसे जरा-सा भी मोह नहीं है वह कुछ आश्वस्त होता है।

लखनपुर में किसानों पर जुल्म और अत्याचार बढ़ रहे हैं। ज्ञानशंकर अपने मित्र मैजिस्ट्रेट से मिलकर लगान बढ़ाना चाहता है, लेकिन प्रेमशंकर उनको किसानों की सही स्थिति से अवगत करा देते हैं, अतः ज्वालासिंह उसकी परमिशन नहीं देते। अतः ज्ञानशंकर उन दोनों के खिलाफ हो जाते हैं।

लखनपुर में मनोहर नामक एक किसान है। वह एक सहनशील व्यक्ति है, पर उसका बेटा बलराज कुछ उग्र विचारों का नवजवान है। वह कुछ पढ़ा-लिखा है और रूस की क्रान्ति के बारे में भी जानता है। निडरता वह कहता है कि छोटे-मोटे कर्मचारी और कारिन्दों का उसमें ज्यादा दोष नहीं है, वस्तुतः इस शोषण-चक्र में सबकी मिली भगत है। ज्वालासिंह जब लगान वृद्धि में छूट नहीं देता तब ज्ञानशंकर और चिढ़ जाता है और किसानों पर अपने जुल्मों का दौर बढ़ा देता है। गौसखाँ ज्ञानशंकर का कारिन्दा है और ज्ञानशंकर की शह मिलने पर वह बात-बात में वह किसानों को परेशान करना शुरू कर देता है।

बलराज की माँ बिलासी चरागाह में पशुओं को चरा रही थी। गौसखाँ उसके पशुओं को काँजीहाउस में बन्द करवा देता है। बिलासी के विरोध करने पर वह उसको धक्का देता है। अपनी स्त्री के अपमान की बात सुनकर मनोहर के भीतर प्रतिशोध की ज्वाला भड़क उठती है और वह अपने बेटे बलराज को लेकर रात में गौसखाँ

के यहाँ जाता है और उसकी हत्या कर देता है । मनोहर थाने में जाकर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है , किन्तु पुलिस बलराज, प्रेमशंकर तथा गांव के अन्य किसानों को भी हिरासत में ले लेती है । इसके कारण गांव पर जो तबाही आती है , निर्दोष किसानों पर जो जुल्म ढहाये जाते हैं , उनको मनोहर बर्दाश्त नहीं कर पाता और अपराधबोध से पीड़ित होकर आत्महत्या कर लेता है । प्रेम-शंकर के प्रयत्नों से दूसरे लोग हाईकोर्ट से बरी हो जाते हैं ।

किसानों के बीच रहने से प्रेमशंकर को उनकी दरिद्रता और दुर्दशा का भलिभाँति ज्ञान होता है । अपने ज्ञान के प्रकाश में उसके कारणों की भी वह तलाश करता है । वह इन निरीह दरिद्र किसानों की सेवा हेतु "प्रेमाश्रम" नामक आश्रम की स्थापना करता है । उधर मायाशंकर जब बालिग हो जाता है तो अपने आप स्वयं को जमींदारी से दस्तबरदार कर लेता है । प्रेमशंकर , मायाशंकर , ज्वालासिंह आदि सब प्रेमाश्रम में शामिल हो जाते हैं । ज्ञानशंकर मारे आघात और लज्जा के गंगा में डूबकर आत्महत्या कर लेते हैं । एक आदर्श ग्राम के रूप में "हाजीपुर " की स्थापना होती है । बलराज डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का मेम्बर बन जाता है । इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास का अन्त भी प्रेमचन्द के आदर्शवादी सपनों के अनुसार होता है , किन्तु उसमें निरूपित घटनाएँ प्रेमचन्द की वस्तुवादी दृष्टि के अनुरूप हैं ।

{7} रंगभूमि :

"रंगभूमि" उपन्यास का प्रकाशन सन् 1925 में होता है । डा. रामविलास शर्मा इस उपन्यास को सन् 1920 और सन् 1930 के बीच के भारतीय समाज का यथार्थ आकलन मानते हैं ।यथा -

"प्रेमचन्द की पैनी निगाह देख रही थी कि हिन्दुस्तान की जनता लड़ रही है — बिना किसी पार्टी की मदद के, बिना किसी राजनीतिक नेता की सलाह का फायदा उठाए। यह सन '20 और '30 के बीच का उपन्यास है जब हिन्दुस्तान में बड़े-बड़े नेताओं की तरफ से राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन न हो रहा था, जब अंग्रेज कहते थे कि देश में शान्ति है। तब भी सूरदास लड़ रहा था और मृत्यु शैया से पुकारकर कह रहा था — "फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो।" यह भारत की अजेय जनता का स्वर था।" 14

"रंगभूमि" का सूरदास एक तरह से भारतीय जनता का ही प्रतिनिधि है। एक प्रकार से वह प्रेमचन्द का मानसपुत्र या "स्पोकमैन" भी है। आलोचकों ने उसे गांधीवाद के प्रतीक के रूप में लिया है।" गुजराती उपन्यासकार रमणलाल वसंतलाल देसाई कृत "ग्रामलक्ष्मी" के जनार्दन की भाँति सूरदास के व्यक्तित्व की कुछ रेखाएं गांधी से समानता रखती हैं, तथापि उसमें और गांधी में उतना ही अंतर है जितना स्वयं प्रेमचन्द और गांधी में है। "रंगभूमि" में यह स्पष्टतया दिखाया गया है कि प्रेमचन्दजी की सहानुभूति वीरपालसिंह और इन्द्रदत्त जैसे क्रान्तिकारी विद्रोहियों से है। इन्द्रदत्त को तो प्रेमचन्द ने इतना उभारा है कि विनयसिंह का चरित्र भी उसके सम्मुख फीका प्रतीत होता है।" 15

उपन्यास की कहानी कुछ इस प्रकार है : बनारस के पास एक गांव है — पांडेपुर। सूरदास उस गांव का एक भिखारी है। हालांकि उसके पास जमीन का एक टुकड़ा है, जिसे बेचकर वह आराम की जिन्दगी बसर कर सकता है। लेकिन उस जमीन पर गांव के ढोर चरते हैं, अतः सूरदास अपने बापदादों की इस निशानी को बेचना नहीं चाहता।

जानसेवक एक नवउद्योगपति है । वह सूरदास की जमीन पर सिगरेट का कारखाना खड़ा करना चाहता है । वह सूरदास को इसके लिए अच्छी-खासी रकम दे रहा है । पर सूरदास टस से मस नहीं होता ।

जानसेवक की लड़की सोफिया आदर्शवादी है । सोफिया की माँ कट्टर ईसाइन है । सोफिया सूरदास के विचारों से काफी प्रभावित है । सोफिया की माँ एक दिन मज़हब की बात को लेकर सोफिया को घर से निकाल देती है । सोफिया जा रही थी, तब कहीं आग लग जाती है और उसमें किसी की जान बचाते हुए सोफिया बेहोश हो जाती है । चौथे दिन जब उसे होश आता है, तब वह स्वयं को कुंवर भरतसिंह के विशाल भवन में पाती है । वस्तुतः उस अग्निकांड में भरतसिंह के पुत्र कुंवर विनयसिंह ने सोफिया की जान बचाई थी । सोफिया विनयसिंह को श्रद्धा की दृष्टि से देखती है और धीरे-धीरे वह श्रद्धा प्रेम में परिवर्तित हो जाती है । जानसेवक संपूर्णतया एक व्यावसायिक वृत्ति वाला व्यक्ति है । हर प्रसंग का फायदा उठाना उसे आता है । बेटी सोफिया को देखने वह इसलिए जाता है कि इस बहाने कुंवर साहब से संबंध जुड़ सकता है जिसको कहीं फायदे में भुनाया जा सकता है । अपनी वाक्पटुता के कारण वह कुंवर साहब को पचास हजार के शेयर बेच देता है । बनारस के राजा महेन्द्रप्रतापसिंह कुंवर भरतसिंह के दामाद हैं और साथ ही वे म्युनिसिपालिटी के चेयरमैन भी हैं । वह राजा महेन्द्रप्रतापसिंह को समझाता है कि वह सूरदास को समझावे । वे स्वयं पांडेपुर जाकर सूरे को खूब समझाते हैं कि कारखाना खुलने से व्यापार-धंधा बढ़ेगा और लोगों को काम मिलेगा, परंतु सूरदास टस से मस नहीं होता । उसका विचार है कि कारखाना खुलने से ताड़ी, शराब का प्रचार बढ़ेगा और गांव में कस्बिनें (वेश्याएं) आ बसेंगी । उधर विनय की माँ रानी जाह्नवी को जब यह ज्ञात होता है कि उसका बेटा एक ईसाई लड़की के प्रेम-जाल में फँसता जा रहा है

तो वह कुँवर विनयसिंह को राजस्थान भेज देती है ।

इनके अतिरिक्त अनेक घटनाएँ हैं जिनमें विनय का राजस्थान में ग्राम-सेवा में लग जाना, विनय का सोफिया को पत्र लिखना, सोफिया को यह आशा कि शायद पत्र पढ़कर रानी माँ का दिल पसीजेगा किन्तु उसका रानी माँ पर उल्टा प्रभाव, रानी माँ का सोफिया को कहना कि वह ऐसा पत्र लिखे कि उनके बीच केवल भाई-बहन का रिश्ता हो सकता है, पत्र लिखते हुए सोफिया का बेहोश हो जाना, क्लार्क नामक नये मजिस्ट्रेट का आना, जानसेवक का उससे मेलजोल बढ़ाना, सोफिया की माँ का सोचना कि क्लार्क के साथ सोफिया का संबंध हो जाय, अतः उसके रुख का कुछ नरम होना, राजस्थान के जसवंतनगर में विनय की डाकुओं के सरदार वीरपालसिंह से भेंट, विनय का इस तथ्य से अवगत होना कि वीरपालसिंह डाकू नहीं अपितु अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़नेवाला देशभक्त और विद्रोही है । इस पर विनय पर डाकुओं से मिला होने का आरोप, उसे जेल में डाल देना, वीरपालसिंह का उसे छुड़ाने आना पर उसका मना कर देना, सोफिया का अपने घर आना, उसे इस बात का पता चलना कि उसके पिता क्लार्क द्वारा सूरे की जमीन हड़पना चाहता है, क्लार्क से प्यार का झूठा नाटक, क्लार्क का सोफिया की बात को मान लेना, उसके द्वारा मन्सूखी का आदेश, राजा महेन्द्रप्रतापसिंह उसको का उसे अपना अपमान समझना, क्लार्क का जसवंतनगर तबादला, सोफिया का विनय को मिलना, एक-दूसरे के बने रहने की प्रतिज्ञा, नायकराम का पांडेपुर से समाचार लाना कि रानी जाह्नवी बीमार है, इस सूचना से विनय का जेल से भागना, क्लार्क की मोटर के नीचे किसी व्यक्ति का आ जाना, सोफिया द्वारा क्लार्क का पक्ष लेना, वीरपालसिंह के नेतृत्व में जनता का विद्रोह, किसी व्यक्ति

द्वारा सोफिया को ठेस लगना , विनय के क्रोध का भड़कना , उसका वीरपालसिंह पर झपटना , क्रान्तिकारियों द्वारा सोफिया को उठा ले जाना , विनय का उसे खोजने निकलना , क्रान्तिकारी के डेरे पर विनय की सोफिया से भेंट , सोफिया का भी क्रान्तिकारी बन जाना , पाँडेपुर के ताड़ीफरोश भैरों की कथा , पत्नी सुभागी को खूब मारना-पीटना , घर से निकाल देना , उसका सूरे के यहाँ आश्रय पाना , सूरे को बदनाम कर देना , सूरे को जेल हो जाना , लोगों द्वारा छुड़ा लाना , विनय का वापस लौटना , रास्ते में अकस्मात् सोफिया का मिलना , दोनों का घर लौटना , विनय का माँ के सामने आत्महत्या का प्रयास , रानी माँ द्वारा क्षमा कर दिया जाना , जमीन के लिए सूरदास का सत्याग्रह , विनय का वहाँ जाना , किसीके द्वारा ताना कसना कि अब तक कहाँ थे , उस पर ताव में आकर विनय स्वयं को गोली मार लेता है ताकि लोग देखें कि राजाओं के बेटे जान भी दे सकते हैं ; सूरदास को गोली लगना , उसका मर जाना , सोफिया की आत्महत्या , सोफिया की माँ का पागल होकर बेटी के गम में मर जाना , बेटे की मृत्यु से कुंवर भरतसिंह का निराश होकर विलासिता की ओर पुनः बढ़ना , जान्सेवक का निश्चिन्त भाव से कारखाने को चलाते रहना जैसी अनेकानेक घटनाओं ने उपन्यास को बहुआयामी बना दिया है ।

डॉ॰ रामविलास शर्मा ने प्रस्तुत उपन्यास के बढ़ते हुए कौशल को लक्षित करके कहा है : " इसमें राजा , ताल्लुकेदार , पूँजीपति , अंग्रेज हाकिम , किसान , हिन्दुस्तानी जीवन की एक विशद झाँकी देखने को मिलती है । नायकराम का हास्य, सोफिया की सरलता , विनय का साहस , राजा महेन्द्रप्रतापसिंह की धूर्तता , जानसेवक की स्वार्थपरता , वीरपाल का साहस ,

सूरदास की दृढ़ता पाठक के हृदय पर गहरी छाप छोड़ जाते हैं । अभी तक ("रंगभूमि" तक) प्रेमचन्द के किसी भी उपन्यास में इतने अविस्मरणीय पात्र एक साथ न आये थे । यह उनके बढ़ते हुए कौशल का परिचय था ।" 16

(8) कायाकल्प :

"कायाकल्प" का प्रकाशन सन् 1926 में हुआ था । यह प्रेमचन्दजी के मुख्य साहित्य-सरोकारों से कुछ अलग हटा हुआ-सा उपन्यास जान पड़ता है । रानी देवप्रिया और उसके पति के पूर्व-जन्मों की कहानी तिलस्मी उपन्यासों की याद दिलाती है । प्रेमचन्दजी जैसे प्रखर बुद्धिवादी लेखक की कलम से ऐसे उपन्यास का आना एक आश्चर्य की बात है । डा. गणेशन इस संदर्भ में लिखते हैं :—

" शायद भारत के हिन्दू-समाज में रूढ़ मूल अंध-विश्वासों और मूढ़ परंपराओं को दिखाना ही प्रेमचन्दजी का ध्येय रहा हो ।" 17 परन्तु ऐसे नितान्त काल्पनिक उपन्यास में भी प्रेम-चन्दजीने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की समस्या को उसे यथार्थ रूप में उभारा है । यह उस समय की एक ज्वलंत समस्या थी (आज भी है ।) जिसके कारण उभय कौम के लोग अपने राष्ट्रीय हितों को दरकिनार कर एक-दूसरे के खून के प्यासे बने हुए थे । इस समस्या का भी बीज हमें "सेवासदन" उपन्यास में मिलता है ।

उपन्यास की कथा कुछ इस प्रकार है : चक्रधर एक एम.ए. पास शिक्षित युवक है । उसके पिता मुंशी वज्रधर की इच्छा है कि वह कोई सरकारी नौकरी कर ले , लेकिन चक्रधर अपना जीवन समाज-सेवा में व्यतीत करना चाहता है । पिता के बहुत आग्रह पर वह जगदीशपुर के दीवान साहब की कन्या मनोरमा को ट्यूशन पढ़ाना स्वीकार करता है । मनोरमा चक्रधर को चाहने

लगती है । चक्रधर बेटे की इस नौकरी से फायदा उठाते हुए ~~वीजनाथ~~ तहसीलदार हो जाते हैं । इसके साथ-साथ रानी देवप्रिया की कथा भी चलती है । वह जगदीशपुर की रानी है और विधवा है । विधवा होते हुए भी वह अपना जीवन भोग-विलास में व्यतीत करती है । वहाँ एक राजकुमार आता है जो स्वयं को रानी का पूर्व-जन्म का पति बताता है । उसके प्रस्ताव पर रानी राज्य विशालसिंह को सौंपकर उसके साथ चली जाती है ।

इधर विशालसिंह का राजतिलक होता है । असामियों से जबरदस्ती चन्दा वसूला जाता है । चारों तरफ लूट-खसोट मच जाती है । चक्रधर समझता है कि राजा के छोटे कर्मचारी और अफसर यह सब कर रहे हैं और राजा साहब को शायद इसका इल्म नहीं है , अतः वह राजा के पास शिकायत लेकर जाता है तो उसे बुरी तरह से फटकार दिया जाता है । रियाया पर जुल्मों के बढ़ जाने पर मजदूर राजा के मैजिस्ट्रेट और पुलिस पर हमला बोल देती है । चक्रधर महात्मा गांधी के अहिंसावादी विचारों को मानता था , अतः वह बीच-बचाव कर मजदूरों को शान्त कर देता है और स्वयं चोट खाकर मैजिस्ट्रेट को बचा लेता है । उसके बाद की घटनाएं संक्षेप में इसप्रकार की हैं —

ढली उम्र और तीन पत्नियों के बावजूद राजा विशाल-सिंह का मनोरमा पर लट्टू होना , मनोरमा की चक्रधर के लिए सिफारिश , चक्रधर का इन्कार , मनोरमा के भाई गुरु-प्रसाद की अदालत में मुकदमे का चलना , चक्रधर का बरी हो जाना , जेल से छूटने पर चक्रधर का राज्य की ओर से ही धूमधामभरा स्वागत , चक्रधर को ज्ञात होना कि मनोरमा अब भी उसे चाहती है , दोनों का गांव-गांव घूमकर सेवा करना , आगरा में सांप्रदायिक दंगों का भड़कना , उसमें अहिल्या के

धर्मपिता यशोदानंदन का मारा जाना, चक्रधर का आगरा पहुँचना, अहिल्या का मुसलमानों द्वारा अपहरण, यशोदानंदन के मित्र और मुसलमानों के नेता ख्वाजा साहब की दरमियानगिरी से अहिल्या का छूटना, चक्रधर का अहिल्या से विवाह करना, चक्रधर के माता-पिता अहिल्या का स्वीकार तो करते हैं किन्तु मुसलमानों द्वारा अपहृत होने के कारण उसके साथ छुआछूत का व्यवहार करते हैं, माता-पिता के ऐसे व्यवहार से दुःखी होकर चक्रधर का इलाहाबाद चले जाना, अहिल्या से पुत्र शंखधर को प्राप्त करना, मनोरमा की बीमारी, पता चलने पर चक्रधर का पत्नी-पुत्र सहित जगदीशपुर लौटना, वहाँ कुछ ऐसे प्रमाणों का मिलना कि जिससे अहिल्या राजा विशालसिंह की पुत्री सिद्ध होती है, बीस वर्ष पूर्व उसके खोने की बात, मनोरमा को पिता का हिस्सा मिलना, ऐश्वर्य में जीना, चक्रधर का खोया-खोया सा रहना, एक दिन रास्ते में मोटर का बिगड़ना, एक देहाती को सहायता हेतु कहना, उसके इन्कार पर उसे इतना पिटना कि वह बेहोश हो जाता है, चक्रधर का दुःखी रहना और अज्ञातवास, शंखधर का पिता की खोज में निकलना, लौटते समय किसी अज्ञात शक्ति के कारण उसका रानी देवप्रिया के पास पहुँचना, दोनों का प्रेम से मिलना, शंखधर का पूर्व-जन्म में देवप्रिया का पति होना, कमला बनकर रानी का उससे विवाह कर लेना, मिलाप का चिरस्थायी न रहना, शंखधर का यह कहकर शरीर त्यागना कि अब से तब मिलेंगे जब उनमें कोई वासना शेष न रहेगी, शंखधर की मृत्यु से चक्रधर का दुःखी रहना, अहिल्या की मृत्यु, रानी देवप्रिया का पुनः जगदीशपुर आना और राज्य चलाना, वासना का परित्याग, अतः विलासिनी देवप्रिया नहीं अपितु तपस्विनी देवप्रिया के रूप में उसका स्थापित होना आदि आदि। इस तरह हम देख सकते हैं कि एक तरफ तो उसमें अलोकोगरीय घटनाओं

का घटाटोप है तो दूसरी तरफ तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं का वास्तवदर्शी आकलन है ।

इस संदर्भ में डा. हंसराज रहबर लिखते हैं — "जहां वे यथार्थ का चित्रण करते हैं, गांवों की दरिद्रता, देहातियों के दुःख, विवशता और उन पर राजा और उसके कर्मचारियों के अत्याचारों का वर्णन करते हैं, वहां तक तो बात बनती है और पढ़ने में मन भी लगता है । लेकिन जहां देवप्रिया के अलौकिक प्रेम, पूर्व-जन्म और आवागमन का किस्सा शुरू हो जाता है और जब चक्रधर जेल से निकलने के उपरांत अपने आदर्शों को किसी प्रकार आगे नहीं बढ़ा पाता और एकांत जीवन बिताने लग जाता है तो समस्त उपन्यास गोरखधंधा और शब्दाडम्बर दिखाई देने लगता है । "प्रेमाश्रम" में प्रेमचन्द यथार्थ के मार्ग पर जितना आगे बढ़े थे, "कायाकल्प" में उतना ही पीछे लौट गए मालूम होते हैं । मन्मथनाथ गुप्त ने इस उपन्यास पर आलोचना करते हुए ठीक ही लिखा है — "'कायाकल्प' प्रेमचन्द की सबसे शिथिल रचना है । इसे एक भानुमती का पिटारा कहा जाए तो कोई अनुचित न होगी ।" " 18

{९} कर्मभूमि :

"कर्मभूमि" का प्रकाशन सन् 1932 में हुआ । अपेक्षाकृत यह प्रेमचन्दजी की एक प्रौढ़कालीन रचना है । इसका कथानक राजनीतिक आंदोलनों के तानों-बानों से बुना गया है । अछूतोद्धार, जमींदार-किसान संघर्ष, सूदखोरी आदि प्रश्न इससे संयुक्त हैं । प्रेमशंकर {प्रेमाश्रम} के प्रेमाश्रम की भांति यहां डा. शांतिकुमार का "सेवाश्रम" है । वह सारे नागरिक आंदोलनों का केन्द्र है । ग्रामीण लोगों का नेतृत्व कथानायक अमरकान्त लेता है । डा. गणेशन इस उपन्यास के संदर्भ में

लिखते हैं — "कथानक तथा पात्रों के जीवनवृत्तों के साथ-साथ इसमें चित्रित वातावरण भी कम महत्व का नहीं है । अत्यन्त विशाल पटभूमि का उपयोग करने के कारण कथानक में तथा पात्रों के जीवनवृत्तों के क्रमिक विकास में थोड़ी-बहुत शिथिलता आयी है । इसी कारण देश के तत्कालीन वातावरण को यथार्थ रूप में उपस्थित करने में लेखक को विशेष सफलता भी प्राप्त हुई है ।" 19

डा. इन्द्रनाथ मदान के विचार से "रंगभूमि" का जीवन-संबंधी दृष्टिकोण एक खिलाड़ी का है जबकि "कर्मभूमि" का जीवन-संबंधी दृष्टिकोण एक योद्धा का है । 20 "रंगभूमि" का अनासक्त योगी सूरदास यहाँ अमरकान्त के रूप में कर्मयोगी बन गया है । उपन्यास की कथा संक्षेप में इस प्रकार है —

समरकान्त बनारस के एक जाने-माने सेठ हैं । उनका लड़का अमरकान्त गाँधीवादी विचारों में रंग गया है । सेठ के शब्दों में बिगड़ गया है । वह खुद्दर पहनता है, चर्खा चलाता है और सार्वजनिक कार्यों में भाग लेता है । फलतः बाप-बेटे में अन-बन है । स्कूल की फीस भी उसका मित्र सलीम भरता है । अमरकान्त की माँ उसके बचपन में ही गुजर गयी थी । समरकान्त दूसरा विवाह करते हैं । उससे एक लड़की होती है — नैना । अमरकान्त अपनी छोटी बहन को बहुत ही प्यार करता है । समरकान्त की दूसरी पत्नी का भी निधन हो जाता है । उसके बाद वे तीसरा विवाह नहीं करते, पर घर के खालीपन को भरने के लिए अमरकान्त का विवाह सुखदा से कर देते हैं । सुखदा को भी पति के ये सब काम अच्छे नहीं लगते । सुखदा को उसकी विधवा माँ से बहुत बड़ी जायदाद मिलनेवाली है । अतः उसके विचार भी लाला समरकान्त के

अनुरूप होते हैं परन्तु बाद में उसके विचारों में परिवर्तन आता है ।

पत्नी का प्रेम न पाकर अमरकान्त सकीना नामक एक मुस्लिम युवती की ओर आकर्षित होता है । उन दोनों का प्रेम बढ़ता ही जाता है । इधर पिता के साथ की रात-दिन की चिक-चिक से तंग आकर अमरकान्त चमारों के एक गांव में चला जाता है । अमरकान्त चमारों के गांव में है और उनके बीच रहकर सेवाकार्य कर रहा है । उनके साथ उठता-बैठता है । उनके साथ खाता-पीता है । इस उपन्यास में आर्थिक शोषण और कृषक जागरण की समस्या को भी उसके यथार्थ संदर्भों में उकेरा गया है । कृषक आंदोलन का नेतृत्व नायक अमरकान्त और क्रान्तिकारी स्वामी आत्मानंद करते हैं । आत्मानंद की तुलना में अमरकान्त सुधारवादी हैं । स्वामी आत्मानंद उग्रवादी है और उनका क्रांति में विश्वास है ।

"कर्मभूमि" उपन्यास में अछूत-समस्या को विशेष महत्व प्राप्त है । इसकी एक विशेषता यह है कि इस समस्या को यहां अछूत नहीं, वरन् सवर्ण हिन्दू उठाते हैं । वे ही इस आंदोलन का नेतृत्व संभालते हैं । वे अछूतों को मंदिरों में प्रवेश दिलाते हैं और उन पर अत्याचार करने वालों को आड़े हाथों लेते हैं । यह अछूत-आंदोलन मुख्यतः नगर में चलता है और उसका नेतृत्व डा. शान्तिकुमार एवं सुखदा जैसे सवर्ण हिन्दू पात्र संभालते हैं ।

अमरकान्त चमारों के जिस गांव में कार्य कर रहा है वहां का जमींदार एक महन्त है । यह महन्त "सेवासदन" के महन्त बांकेबिहारी का ही मानो प्रतिरूप है । वह भी अपने असामियों का खूब शोषण करता है । अतः अमरकान्त के नेतृत्व में यहां लगानबन्दी आंदोलन चलता है । अमरकान्त किसानों के क्रोध को शान्त कर उसे एक अहिंसक रूप देता है । अमरकान्त का मित्र आई.सी.एस. होकर उसी इलाके में

आता है और सरकार के हुक्म से अमरकान्त को गिरफ्तार भी करता है। लेकिन अन्त में उसे भी अपनी गलती का अहसास होता है और वह भी किसानों का पक्ष लेते हुए जेल चला जाता है। अमरकान्त के पिता भी अपने बेटे की खोज में गांव जाते हैं और किसान-आंदोलन के ही सिलसिले में गिरफ्तार होकर जेल चले जाते हैं। उधर शहर में डा. शांतिकुमार, सुखदा, उसकी माँ रेणुकादेवी आदि अछूतों के लिए अच्छे मकान बनवाने का जो आंदोलन चला रहे थे उसमें गिरफ्तार होकर जेल जाते हैं। अमरकान्त और सलीम का आंदोलन इतना आगे बढ़ जाता है कि आखिरकार सरकार को झुकना पड़ता है। गवर्नर लगानबंदी के संदर्भ में पाँच व्यक्तियों की एक कमेटी बनाते हैं जिसमें अमरकान्त और सलीम भी शामिल हैं।

डा. मोहनलाल रत्नाकर इस उपन्यास के संदर्भ में कहते हैं : " उनके पात्र देश-कल्याण की भावना से अभिभूत होकर, अन्याय के विरुद्ध स्पष्ट संघर्ष आरंभ कर देते हैं। वे गांधी के उस आदर्श का निर्वाह करते हैं, जिसके अनुसार जेलों को इतना भर दो कि वहाँ जगह ही न रहे और अहिंसा एवं शान्ति से विदेशी सरकार को पराजित कर दो। फलतः वे जेल-यात्रा को गौरव की वस्तु समझते हैं, राष्ट्रीय चेतना की ज्योति का प्रसार ही उनके जीवन का लक्ष्य बन जाता है।" [21] वस्तुतः प्रेमचन्द एक जागरूक लेखक हैं और उनकी निगाह देश-विदेश की प्रमुख घटनाओं पर निरंतर रहती ही थी। यदि तत्कालीन इतिहास को उसके यथार्थ रूप में ढूंढना हो तो प्रेमचन्द के उपन्यास एक महत्वपूर्ण स्रोत हो सकते हैं। "कर्मभूमि" भी इस प्रकार का एक उपन्यास है।

(10) गोदान :

"गोदान" का प्रकाशन सन् 1936 में हुआ। उसी वर्ष

प्रेमचन्दजी का निधन हुआ था । प्रेमचन्दजी की औपन्यासिक कला का सर्वोत्तम शिखर "गोदान" है । यह कृषक जीवन का महाकाव्य है । हिन्दी साहित्य ही नहीं, विश्व-साहित्य की एक अनमोल कृति है "गोदान" । वस्तुतः प्रेमचन्द और "गोदान" पर्यायवाची बन गए हैं । इस उपन्यास की [illegible] विलक्षणता एवं विशिष्टता को लक्षित करते हुए अनेक विद्वानों ने उस पर अपने विचार व्यक्त किए हैं । शायद ही हिन्दी का कोई ऐसा प्रथम कोटि का आलोचक या विद्वान होगा जिसने इस महाकाव्यात्मक उपन्यास (EPiC NoVel) पर न लिखा हो ।

डा. रामविलास शर्मा गोदान को "किसान-महाजन संघर्ष का उपन्यास मानते हैं । उनके विचार से इस उपन्यास की मूल समस्या शोषित तथा उत्पीड़ित कृषक के ऋण की समस्या है ।[22] डा. शांतिप्रिय द्विवेदी "गोदान" के संदर्भ में लिखते हैं — "अकेले अपने में ही पूर्ण, वह उनकी कला की अंतिम पूर्णिमा है । उनके अब तक के कृतित्व का सारांश है । केवल इसे देख लेने से हम अब तक के प्रेमचन्द को पा लेते हैं ।"[23] तो डा. इन्द्रनाथ मदान "गोदान" को भारतीय किसान की गाथा मानते है, जिसमें उसकी सभी विशेषताएं और उसके सभी रूप विद्यमान हैं ।[24] डा. पाण्डुरंग देसाई "गोदान के संदर्भ में लिखते हैं —" 'गोदान' प्रेमचन्दजी की प्रौढ़तम रचना है । सामाजिक शोषण के खिलाफ जो आवाज़ "सेवा-सदन" से उठी थी, "गोदान" में वह और भी व्यापक फलक को समेटकर अपनी बुलंदियों पर पहुंच गई है । प्रेमचन्दजी की मृत्यु पर कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था — " एक रत्न मिला था तुमको, तुमने खो दिया । "[25] हिन्दीभाषियों ने उस रत्न को तो खो दिया, पर उस रत्न की ओर से मिला हुआ "गोदान" रूपी रत्न तो हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है ।"[26]

"गोदान" तक आते-आते प्रेमचन्दजी पूर्णतया यथार्थवादी हो गये थे । तभी तो डा. इन्द्रनाथ मदान "गोदान" के इस बदले हुए स्वर को रेखांकित करते हुए लिखते हैं -- " यह उपन्यास केवल होरी का "गोदान" नहीं है , प्रेमचन्दजी की आस्था का भी "गोदान" है । सदनों , निकेतनों , आश्रमों में लेखक की आस्था का "गोदान " है । उनका विश्वास सुधारवादी -गाँधीवादी समाधान से उठ गया है । ... प्रेमचन्द की चेतना एक नया मोड़ लेती है ।"[27]

"गोदान" की कथा कुछ इस प्रकार है : होरी एक छोटा-सा मामूली-सा किसान है । उसके पास चार-पाँच बीघे जमीन है । उसकी तीन संतानें हैं -- बड़ा लड़का गोबर और सोना और रूपा दो लड़कियाँ । धनिया उसकी पत्नी है । वह एक झगड़ालू और जीवट वाली औरत है । "मरजादा" के नाम पर होरी का निरंतर शोषण होता रहता है । धनिया को यह पसंद नहीं है । इसलिए कई बार उनमें झगड़ा भी हो जाता है । होरी अपने इलाके के जमींदार अमरपालसिंह को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है किन्तु प्रेमचन्दजी की सुदूर भविष्य की कल्पना उद्घाटित कर दी थी । अतः "गोदान" में शोषकों का एक नया रूप ले के आये हैं । भेड़िये यहाँ भेड़ बनकर आये हैं । उन्होंने लोकहित का मुखौटा पहन लिया है । जमींदार रायसाहब अमरपालसिंह आंदोलन में जेल भी हो आये हैं । दुलारी और झिंगुरी के दुराचारी भी हैं और किसानों को भी चूस रहे हैं : एक नये अंदाज में कि पता भी न चले ।[28] उपन्यास का एक पात्र प्रोफेसर मेहता रायसाहब की पोल खोलते हुए ठीक ही कहता है -- " मानता हूँ , आपका आपके असामियों के साथ अच्छा बर्ताव है , मगर प्रश्न यह है कि उसमें आपका स्वार्थ है या नहीं , इसका एक कारण क्या यह नहीं हो सकता कि मद्धिम आँच में भोजन स्वादिष्ट पकता है : गुड़ से मारने वाला जहर से मारने वाले की अपेक्षा कहीं अधिक सफल हो सकता है ।"[29]

रायसाहब का दूसरा आलोचक होरी का पुत्र गोबर है । वह रायसाहब के दान-धर्म के संदर्भ में कहता है -- "नहीं, किसानों के बल पर और मजदूरों के बल पर । यह पाप का धन पचे कैसे, इसीलिए दान-धर्म करना पड़ता है ... एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़े तो सारी भगति भूल जाए ।" 30

बड़ी मेहनत के बावजूद होरी का जीवन दरिद्रता में ही व्यतीत होता है । उसके जीवन की सबसे बड़ी साध है कि उसके दरवाजे पर कोई गाय हो । आखिर भोला अहिर से उसे उधार में गाय मिल भी जाती है, परन्तु वह ज्यादा दिन उसके दरवाजे पर रहती नहीं है, क्योंकि ईर्ष्यावश उसका भाई हीरा गाय को विष खिला देता है और वह मर जाती है । गाय तो जाती ही है, ऊपर से पुलिस का दारोगा आ धमकता है और केस को दबाने के लिए उसे रिश्वत देनी पड़ती है । उसके पैसे महाजन से लिये जाते हैं ।

भोला अहिर की विधवा-कन्या झुनिया से गोबर को प्रेम हो जाता है । वह एक दिन हिम्मत करके उसे ले तो आता है, पर मां-बाप का सामना करने का साहस नहीं जुटा पाता और झुनिया को छोड़कर शहर भाग जाता है । वहाँ जाकर गोबर पहले खोमचा लगाता है, बाद में मजदूरी करने लगता है । धनिया पहले तो दुविधा में पड़ जाती है, पर बाद में उसे अपने घर में रख लेती है । इधर होरी और धनिया को अपनी बेटी सोना के विवाह की चिन्ता सता रही है । कुछ रुपया कर्ज लेकर वह सोना का विवाह तो कर देते हैं, लेकिन वह कर्ज फिर कभी उतरता नहीं है । जमींदार के कर और लगान, सरकारी कर्मचारियों की लूटखसोट और धर्म के ठेकेदारों के दण्ड होरी की कमर तोड़ डालते हैं । आखिर वह अपनी छोटी लड़की का विवाह रुपये लेकर एक बूढ़े आदमी से करने पर विवश हो जाता है । जिन्दगीभर "मरजादा" की बात करने वाले होरी की कोई "मरजादा" नहीं टिक पाती

और भयंकर गरीबी से रहते वह किसान से मजदूर हो जाता है। कठिन काम से उसकी देह टूट जाती है और गन्ने के खेत में काम करते हुए लू लगने से उसकी मौत हो जाती है। अन्त समय में भी गाय की आकांक्षा उसे क्षुब्ध करती है। पंडित दातादीन यहाँ भी अपना कर वसूलने को मानो तैयार खड़ा है। सब कहते हैं -- "गो-दान" करा दो, अब यही समय है। " उपन्यास का अन्त इन शब्दों से होता है -- " धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली -- महराज, घर में गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गो-दान है। और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।" 31

"गोदान" की मूल कथा तो यही है, किन्तु उसके साथ दूसरी अनेक कथाएं जुड़ी हुई हैं जो उस समय के परिवेशगत यथार्थ को स्पष्ट करती है। ग्रामीण कथा के साथ यहाँ नगरीय कथा भी है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इस नगरीय कथा को बेमेल, अनुपयुक्त एवं अनावश्यक मानते हैं। [32] किन्तु "गोदान" को आद्यन्त देख जाने पर ऐसा नहीं लगता, बल्कि इस नागरिक-कथा के अभाव में भारतीय किसान का वैरा चित्र कदाचित् न उभरता। प्रेमचन्दजी एक युगद्रष्टा कलाकार थे और उन्होंने भली भाँति देख लिया था कि किसान का शोषण केवल जमींदार द्वारा ही नहीं होता; प्रत्युत एक पूरी मशीनरी है जो पूंजीवादी व्यवस्था की देन है। रायसाहब, खन्ना और तंखा इसी मशीनरी के विभिन्न पुर्जे हैं। शोषण ऊपर से नीचे की ओर होता है। किसान और मजदूर सबसे नीचे हैं जो बेचारे दब जाते हैं। जैसे आजकल एक देश की राजनीति को समझने के लिए विश्व की राजनीति को भी ध्यान में रखना पड़ता है; ठीक उसी प्रकार तत्कालीन [और आज के भी] भारतीय कृषक समाज का चित्र इस नागरिक चित्रण

के अभाव में अपूर्ण रहता ।" 33

"गोदान" में प्रेमचन्दजी ने ब्रिटिशकालीन भारत के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला है । जाति-वाद तथा बिरादरी का आतंक जोरों पर था । होने को भले कुछ न हो, पर बिरादरी को "डांड" भरना पड़ता था । ब्राह्मण एक तरफ तो कुलीनता की डींग मारते हैं, किन्तु दूसरी तरफ किसी चमारिन के साथ सोने में उनका धर्म भ्रष्ट नहीं होता था । मातादीन और सिलिया वाले प्रसंग में सिलिया की माँ का यह कथन बहुत-कुछ कह जाता है — "उसके साथ सोओगे, लेकिन उसके हाथ का पानी न पिओगे । यही चुड़ैल है कि यह सब सहती है । मैं तो ऐसे आदमी को माहुर दे देती ।" 34 सिलिया का बाप हरखू भी कहता है — "तुम हमें बाम्हन नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं । हमें ब्राह्मन बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है । जब यह समरथ नहीं है, तो फिर तुम भी चमार बनो । हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो । हमारी इज्जत लेते हो, तो अपना धरम हमें दो ।" 35

संक्षेप में बदलते हुए जमाने के तेवरों का तीखापन हमें हरखू, सिलिया, गोबर, धनिया जैसे पात्रों में मिलता है । धनिया तो प्रेमचन्द के नारी पात्रों में अनन्यतम है । संक्षेप में "गोदान" एक बहुआयामी और बहुरूपी उपन्यास है । आजादी के बाद भारत की बागडोर किन लोगों के हाथों में जानेवाली है उसका दिग्दर्शन उन्होंने यहाँ बहुत पहले ही करा दिया था ।

(11) मंगलसूत्र (अपूर्ण) :

"मंगलसूत्र" उनका अंतिम उपन्यास है, किन्तु वह पूरा नहीं हो सका । उसके पूर्व ही 8 अक्तूबर 1936 को उनका

निधन हो गया । प्रेमचन्दजी की औपन्यासिक कला के ग्राफ को देखते हुए अनुमानतः कहा जा सकता है कि यदि यह उपन्यास पूरा होता तो यथार्थवादी कला के और भी नये और ऊंचे आयाम प्रकट होते ।

यह प्रेमचन्दजी का एक अधूरा उपन्यास है । केवल चार परिच्छेद ही लिख पाये थे कि मौत ने उनको धर दबोचा । फिर भी इस अधूरे उपन्यास से इतना तो ज्ञापित होता है कि प्रेमचन्द जीवन के कटु अनुभवों से बहुत कुछ सीख रहे थे । उनकी पुरानी मान्यताएं टूट रही थीं और "गोदान" के बाद भी उनका विकास जारी था ।

इस उपन्यास के नायक देवकुमार एक लेखक हैं । किन्तु लिखने से उन्हें कोई आर्थिक लाभ नहीं होता । जब लोग अपन्ढ़ होंगे तो उनका लेखक तो दरिद्र होगा ही । लिखने के इस "व्यसन" कारण देवकुमार बापदादों की संपत्ति भी खो बैठे हैं । उनके दो बेटे हैं — संतकुमार और साधुकुमार । बड़ा बेटा संतकुमार वकील है । वह येन केन प्रकारेण धन कमाकर ठाठ से रहना चाहता है । पिता के आदर्शों से उसे कोई सहानुभूति नहीं, बल्कि कोफ्त होती है उसे उन थोथे आदर्शों से । किन्तु छोटे बेटे साधुकुमार का आचरण पिता के अनुरूप है । वह भी धन के मुकाबले में आदर्शों को महत्व देता है । लेखक के एक लड़की है — पंकजा । उसकी शादी हो गई है । देवकुमार को साहित्य-सेवा के अलावा किसी काम में रुचि नहीं थी और वहाँ धन कहाँ ? यश उन्हें अवश्य मिला जिससे वे कुछ संतुष्ट हैं । किन्तु इस आत्मसंतोष के बावजूद कभी-कभी उनको मन धन का अभाव खलता है और तब वे महसूस करते हैं कि लिखने से तो घास छिलना और खोमचा लगाना कहीं अधिक अच्छा होता । जितने परिच्छेद लिखे गये हैं, उनमें तो मध्यवर्ग की बात है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आगे मध्यवर्ग की बात आती ।

जैनेन्द्र

[आ] जैनेन्द्र के उपन्यासों का कथ्य ::

जैनेन्द्रकुमार ने प्रेमचन्दकाल में लिखना शुरू किया, किन्तु उनके अधिकांश उपन्यास प्रेमचन्दोत्तरकाल में ही आये। प्रेमचन्द के निकट और प्रेमचन्द से प्रोत्साहित होते हुए भी हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में उन्होंने एक नयी और अलग राह बनायी। उन्होंने व्यक्तिवादी और मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास-परंपरा को सर्वाधिक बल दिया। प्रेमचन्दजी की सामाजिकता के स्थान पर उन्होंने वैयक्तिक समस्याओं और उनके विश्लेषण पर अधिक जोर दिया। वे प्रेमचन्द की भाँति व्यक्ति को समाज का अभिन्न अंग न मानते हुए उसके स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा करते हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबंधों और उनसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओं को ही अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। जहाँ प्रेमचन्द के उपन्यास बृहदकाय हैं, वहाँ जैनेन्द्र के उपन्यास, अधिकांश उपन्यास, लघु-उपन्यास की कोटि में आते हैं। पात्रों के माध्यम से वे मानव-मन की अतल, अंधकार भरी और अथाह गहराइयों की थाह लेना चाहते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी की उपन्यास-विषयक स्थापना है कि "उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी चित्रित करने का प्रयास होता है।"[36] और अधिकांश औपन्यासिक आलोचकों ने भी उपन्यास को यथार्थ की विधा माना है। यथार्थधर्मिता को ही उपन्यास का प्राणतत्त्व स्वीकार किया है।[37] यहाँ इस संदर्भ में भी जैनेन्द्रजी के विचार औरों से अलग हैं। उनका मानना है कि उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी नहीं, दुनिया कैसी होनी चाहिए उसका निर्देश होना चाहिए।[38] "साहित्य का श्रेय और प्रेय" में एक निबंधका शीर्षक उन्होंने दिया है — "प्रेमचन्द का 'गोदान' यदि मैं लिखता" — इससे स्पष्ट

हो जाता है कि विचारधारा के संदर्भ में वे प्रेमचन्दजी से कुछ अलग पड़ते हैं । जहाँ प्रेमचन्दजी में बाह्य-सामाजिक यथार्थ का प्राधान्य है, वहाँ जैनेन्द्रजी में आंतरिक-वैयक्तिक-मानसिक चैतसिक यथार्थ पर जोर है । प्रेमचन्दजी समाज-सुधारक अधिक प्रतीत होते हैं, जैनेन्द्र में दार्शनिकता का पुट मिलता है । दार्शनिकता के बोझ के कारण उनके कुछ उपन्यास तो "अपठनीय" से लगते हैं । कथावस्तु की क्षीणता और दर्शन का अत्यधिक विस्तार कई बार पाठकों को ऊब भी सकता है ।

जैनेन्द्रकुमार की औपन्यासिक कृतियों में — "परख", "स्पर्धा", "तपोभूमि", "सुनीता", "त्यागपत्र", "कल्याणी", "सुखदा", "विवर्त", "व्यतीत", "जयवर्धन", "अनंतर", "अनामस्वामी", "मुक्तिबोध", "दशार्क" आदि हैं । यहाँ संक्षेप में उनके कथ्य पर विचार किया जायेगा । इनमें प्रथम चार का प्रकाशन प्रेमचन्दयुग में हुआ था और शेष प्रेमचन्दोत्तर युग की निधि हैं ।

(1) परख :

"परख" का प्रकाशन सन् 1929 में हुआ था । जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और भगवती चरण वर्मा ये तीनों लेखक व्यक्तिवादी चिंतन से उत्प्रेरित हैं । किन्तु जोशीजी का चिंतन पुस्तकीय अधिक है । बंगला और विश्वसाहित्य का उनका अध्ययन गहरा है । किन्तु प्रेमचन्द का-सा अनुभव उनके पास होता तो ज्ञान और अनुभव का मणि-कांचन योग होता । जोशीजी के संदर्भ में डा. भारतभूषण अग्रवाल ने बिल्कुल सही लिखा है —" दोस्तोएवस्की जीवन लिख रहे थे, जोशी शास्त्र लिख रहे हैं ।" [39] तो दूसरी ओर वर्माजीव्यक्तिवाद अहं-प्रेरित है । जैनेन्द्रजी का व्यक्तिवाद चिंतन-परक है । वर्माजी तथा जोशीजी की प्रथम रचनाएँ क्रमशः "पतन"

और "सुखदा" की तुलना में जैनेन्द्रजी की प्रथम रचना "परख" को सर्वाधिक ख्याति प्राप्त हुई है । "परख" से सचमुच में एक अग्रिम पंक्ति के उपन्यासकार की "परख" हो जाती है । इसके संदर्भ में मेरे निर्देशक डा. पारूकान्त देसाई साहब ने लिखा है — "उनकी प्रथम कृति आदर्शवाद में प्रेमचन्दजी से दो कदम आगे है । ... लेखक की प्रथम कृति होने के बावजूद उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई । आज भी उसकी मार्मिकता अक्षुण्ण है । अपने समग्र रूप में वह रवीन्द्रनाथ के उपन्यास " आँख की किरकिरी" का ध्यान दिलाता है और उसका कठोर विनोद [Grim humour] भी उसीकी ओर संकेत करता है ।" 40

उपन्यास की कथा कुछ इस प्रकार है : सत्यधन एक आदर्शवादी युवक है । गांधी और टालस्टाय पढ़ रखा है । अतः वकालत पास करके गांव चला जाता है । वहाँ पड़ौस की लड़की कट्टो जो बाल-विधवा है, उसे पढ़ाने लगता है । पढ़ाते-पढ़ाते वह उसे चाहने लगता है । कट्टो भी अपने मास्टरजी को खूब चाहने लगी है । सत्यधन ही उसमें ये सपने जगाता है । किन्तु सत्यधन की आदर्शवादिता छद्म प्रकार की है । वह जीवन की सुख-सुविधाओं से बंधा हुआ है । अतः अपने मित्र बिहारी की बहन गरिमा से विवाह कर लेता है । दूसरी ओर वह सोचता है कि अपने मित्र बिहारी को वह कट्टो के लिए राजी कर लेगा । और बिहारी इसके लिए राजी भी हो जाता है । परन्तु कट्टो को यह मंजूर नहीं है । बिहारी को वह पसंद करती है । बिहारी का भोलापन, उसका निश्छल व्यवहार उसे आकर्षित करता है । बिहारी को जब कट्टो के विचार मालूम होते हैं, तब उसके प्रति उसका सम्मान और बढ़ जाता है । वे दोनों एक अलग प्रकार के "परिणय-सूत्र " में बंधते हैं । वे प्रतिज्ञा करते हैं कि वे किसी विवाह-सूत्र में नहीं बंधेंगे, किन्तु साथ ही रहेंगे । "हम एक होंगे — एक

प्राण दो तन । कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा । " 41

गरिमा और सत्यधन के विवाह के बाद सत्यधन के सारे आदर्श धरे-के-धरे रह जाते हैं । गाँव छोड़कर शहर आ जाता है । ससुर के व्यवसाय को संभालता है । सत्यधन की स्वार्थपरता को भाँप-कर गरिमा के पिता मृत्यु से पूर्व अपनी समस्त संपत्ति बिहारी को दे जाते हैं । इस पर सत्यधन पहले तो क्रुद्ध होकर अलग रहने चला जाता है, किन्तु धनाभाव के कारण शीघ्र ही उसकी हेकड़ी ढेर हो जाती है और वह बिहारी और कट्टो की सहायता को स्वीकार कर लेता है । इस प्रकार हम देख सकते हैं कि सत्यधन एक दुलमुल-चरित्र का व्यक्ति है । बिहारी शहर छोड़कर गाँवों में चला जाता है । हल जोतने की इच्छा रखता है और कट्टो गाँव के बच्चों को पढ़ाने का निर्णय करती है ।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि "परख" मात्र हृदय का उद्‌गार है । भावुकता का आधिक्य ही इस कृति की विशेषता है । सत्यधन आदर्श की बातें करता है, किन्तु आदर्शपालन हेतु जिस गंभीरता और तप की आवश्यकता होती है, उसका उसमें पूर्णतया अभाव है । "परख" के चरित्रों के संबंध में स्वयं लेखक के विचार हैं — " उसके [परख के] सत्यधन की व्यर्थता मेरी है और बिहारी की सफलता मेरी भावनाओं की है । और कट्टो वह है जिसने मुझे व्यर्थ किया और जिसे मैं अपनी समस्त भावनाओं का वरदान देना चाहता था ।" 42

[2] स्पर्धा :

इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 1930 में हुआ । इसकी गणना साधारण उपन्यासों में ही की जाती है । इसमें जैनेन्द्रकुमार की उपन्यासकला की सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति का और पात्रों के चरित्र-

भी वह जैनेन्द्रीय गहराई का सर्वथा अभाव दृष्टिगत होता है । कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से भी यह उपन्यास कोई उल्लेखनीय लोकप्रियता या सफलता प्राप्त नहीं कर सका है । "परख" के तीसरे से लेकर छठे संस्करण तक यह उपन्यास " परख-स्पर्द्धा " शीर्षक से ही प्रकाशित होता रहा है । [43] किन्तु बाद में उसके संस्करण अलग से प्रकाशित होने लगे । यह एक छोटा-सा उपन्यास है । कोई चाहे तो उसे लम्बी कहानी भी कह सकता है । इसकी कार्य-भूमि इटली है । यह उस समय की कहानी है जब इटली पराधीन था । उस समय उसे स्वतंत्रता दिलाने के लिए क्रान्तिकारी देशभक्तों का एक दल सक्रिय था । उनके कार्य-कलापों को लेकर यह उपन्यास लिखा गया है । देश-प्रेम और व्यक्तिगत मैत्री तथा प्रणय के बीच के संघर्ष का चित्रण लेखक का उद्देश्य प्रतीत होता है । जैनेन्द्र के उपन्यासों के कई आलोचकों ने इस उपन्यास का उल्लेख तक नहीं किया है ।

(3) सुनीता :

इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 1934 में हुआ था । यह जैनेन्द्रजी का बहुचर्चास्पद उपन्यास है । " सुनीता का हरिप्रसन्न के आगे अनावृत्त होना कई आलोचकों को चौंका गया था , परन्तु अतृप्त काम-वासना के शिकार हरिप्रसन्न के मन की ग्रन्थि को खोलने के लिए यह आवश्यक था । श्रीकान्त हरि के प्रति समलैंगिक आकर्षण का अनुभव करता है , अतः पत्नी सुनीता के प्रति कुछ ठण्डा है । संक्षेप में इसकी कथावस्तु पूर्णतया मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए है । " [44] "सुनीता" पर रवीन्द्रनाथ के "घरे-बाहिरे" का प्रभाव है । प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने नैतिकता की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है । इसका आधार यथार्थ जीवन नहीं , अपितु कल्पना है । इस उपन्यास के श्रीकान्त , हरिप्रसन्न

और सुनीता सामान्य पात्र नहीं लगते । ऐसे लोग समाज में प्रायः होते नहीं हैं । इसलिए शायद आलोचक जैनेन्द्र को संभावनाओं के कलाकार कहकर कहते हैं ।

उपन्यास का नायक श्रीकान्त है नायक श्रीकान्त है कि हरिप्रसन्न यह भी विवाद का प्रश्न हो सकता है । वह अपने घनिष्ठ मित्र हरिप्रसन्न की भटकन को दूर करना चाहता है । हरिप्रसन्न के मन में कोई गाँठ है, जिसके कारण प्रतिभासंपन्न होने के बावजूद वह स्थिर नहीं रह पाता है । वह इसी ग्रन्थि के कारण क्रान्तिकारी हो जाता है और अपने जीवन को तिल-तिल कर समाप्त करना चाहता है । श्रीकान्त चाहता है कि हरिप्रसन्न की शक्ति-मेधा-प्रतिभा व्यर्थ न जाएं और वह समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो । श्रीकान्त को इस बात का पता है कि हरिप्रसन्न की इस ग्रन्थि के मूल में नारी-प्रेम का अभाव है ।

अतः वह अपनी पत्नी सुनीता को समझाता है कि परंपरागत सामाजिक – नैतिक मूल्यों की अवहेलना करके वह हरि को प्रेम करे और इस प्रकार उसकी उस ग्रन्थि के भेदन में उसकी सहायता करे । एक दिन वह घोर जंगल में हरिप्रसन्न के साथ जाती है और वहां वे एकान्त में अपने आपको वस्त्रविहीन कर देती है । किन्तु जब सुनीता स्वयं उसके सामने निरावरण हो जाती है तो हरिप्रसन्न घोर लज्जा का अनुभव करता है और सुनीता के देह-दान को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वतःस्फूर्त नहीं, इच्छित है । सुनीता कहती है— "तुम्हें काहे की झिझक है, बोलो । मैंने अभी क्या किया है ? तुम मरते क्यों ? मैं तो तुम्हारे सामने हूं । इन्कार कब करती हूं ? लेकिन अपने को मारो मत । हरि बाबू, मरो मत, कर्म करो । मुझे चाहते हो तो मुझे ले लो ।"[45]

इस प्रसंग के कारण हरिप्रसन्न ग्रन्थि-मुक्त हो जाता है । उसकी सहजता लौट आती है और सुनीता अंत में उससे वादा करवा लेती है कि वह अपने को नहीं मारेगा ।

[4] तपोभूमि :

प्रस्तुत उपन्यास का प्रकाशन सन् 1936 का है , किन्तु प्रेमचन्द के निधन के पूर्व यह प्रकाशित हो चुका था । यह औपन्यासिक-शिल्प में एक प्रयोग है । इसमें जैनेन्द्र तथा ऋषभचरण जैन ने "सहलेखन" शैली का प्रयोग किया है । इसकी कहानी चार भागों में विभक्त है — नवीन की कहानी , धारिणी की कहानी , सतीश की कहानी और शशि की कहानी । उपन्यास के इन चारों भागों में ये पात्र अपनी-अपनी कहानी स्वयं सुनाते हैं । आत्मकथात्मक शैली में वर्णित इनकी कहानियाँ परस्पर घनिष्ठ संबंध रखती हैं ।

उपन्यास की संक्षिप्त भूमिका " अपनी बात " में ऋषभचरण जैन कहते हैं —" मेरा अपना इसमें कुछ नहीं है । जो कुछ है , भैया मेरे जैनेन्द्र का । उनकी आज्ञा मानकर धारिणी की कहानी का कुछ भाग तथा सतीश की कहानी मैंने लिखी ।"[46] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नवीन की कहानी , धारिणी की कहानी का कुछ अंश तथा शशि की कहानी जैनेन्द्र द्वारा लिखित अंश है । सहलेखन की यह परंपरा हमें इसके बाद प्रेमचन्दोत्तरकाल में भी मिलती है । अज्ञेय तथा अन्य ग्यारह लेखकों द्वारा लिखित "बारह खम्भा" ; लक्ष्मीचन्द्र जैन के संपादकत्व में कई लेखकों द्वारा लिखित "ग्यारह सपनों का देश" तथा लेखक-दंपति राजेन्द्र यादव तथा मन्नू भण्डारी द्वारा लिखित "एक इंच मुस्कान" सहलेखन परंपरा के कुछ औपन्यासिक उदाहरण हैं ।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
M.S. University of Baroda

धारिणी की कहानी के माध्यम से हिन्दू विधवा की दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्रण हुआ है । विवाह के थोड़े समय बाद धारिणी के पति का देहान्त हो जाता है । उसका जेठ सुंदरलाल उसे बहका-फुसलाकर उसके साथ शारीरिक संबंध जोड़ता है । जब वह गर्भवती होती है तो सुंदरलाल उसे गर्भपात के लिए कहता है, किन्तु धारिणी उसका दृढ़तापूर्वक विरोध करती है । आत्महत्या के विचार से वह गंगा में कूद पड़ती है किन्तु सौभाग्यवश बच जाती है । कुछ अच्छे-बुरे अनुभवों से गुजरते हुए उसकी भेंट नवीन से होती है । नवीन उसे आश्रय देता है । उसके जीवन में कुछ स्थिरता आती है । इस प्रकार धारिणी की कहानी हमारे समाज और उसके ठेकेदारों पर करारा व्यंग्य करती है कि जहाँ एक तरफ एक विवश अबला की भूल को अक्षम्य माना जाता है, वहाँ दूसरी ओर सुंदरलाल जैसे व्यभिचारियों को क्षम्य समझा जाता है ।

"नवीन की कहानी", "सतीश की कहानी" और "शशि की कहानी के माध्यम से पुरुष द्वारा नारी के गर्व का तिरस्कार, पुरुष की अहंमन्यता, स्त्री-पुरुष के कलह की समस्या, नारी जीवन की मौन वेदना आदि का उद्घाटन हुआ है । नवीन अपनी निरीह प्रेमिका शशि को छोड़कर धारिणी की खोज में निकल पड़ता है और उसके मिल जाने पर उसीके साथ रहने लग जाता है । हालाँकि उसके आचरण में वासना का अभाव था और एक असहाय नारी की सहायता करने का उच्च-भाव उसमें निहित था, किन्तु इससे शशि के हृदय को तो चोट पहुँचती है । उसके स्त्री-सहज स्वाभिमान को गहरा धक्का लगता है । सतीश इस स्थिति का फायदा उठाता है और शशि से विवाह कर लेता है । सतीश शशि पर अपना एकाधिकार चाहता है । वह यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि शशि कभी नवीन के बारे में

सोच-विचार भी करे । अतः एक दिन जब वह शशि और नवीन को एक साथ देखता है तो नवीन की हत्या कर देता है और शशि को हमेशा-हमेशा के लिए तड़पता हुआ छोड़कर घर से भाग जाता है । इस प्रकार सतीश और शशि की कथा स्त्री-पुरुष कलह और उसके दुष्परिणामों को ही रेखांकित करती है । धारिणी और शशि दोनों का जीवन मानो तपोभूमि-सा हो जाता है ।

(5) त्यागपत्र :

"सुनीता" की भाँति "त्यागपत्र" की गणना भी जैनेन्द्रजी के बहुचर्चित एवं विवादास्पद उपन्यासों में होती है । एक ओर डा. नगेन्द्र जैसे विद्वान इस उपन्यास को सर्वोत्कृष्ट कोटि में स्थान देते हैं, वहां आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जैसे आधुनिक साहित्य के मूर्धन्य आलोचक समाज के हिताहित की तराजू पर तौलकर उसके महत्व पर एक प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं । [46 47]

प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में डा. पारुकान्त देसाई लिखते हैं -- "त्यागपत्र" अपने लघु कलेवर में भी महान औप-न्यासिक संभावनाओं को लिए हुए है । मानवीय संवेदना की इतनी गहराई व मार्मिकता अन्यत्र दुर्लभ है ।"सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्म-व्यथा में मिल जाता है । " [48] जैनेन्द्रजी का यह वाक्य उपन्यास के केन्द्रवर्ती भाव को रेखांकित करता है । लेखक ने अन्यत्र भी एक स्थान पर लिखा है - "मानव चलता जाता है और बूंद-बूंद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है । वही सार है । वही जमा हुआ दर्द मानव की मानसमणि है, उसके प्रकाश में मानव का गतिपथ उज्ज्वल होगा ।" [49] दर्द मानव-मन का अमृत है जिससे मानवता जी उठती है । "त्यागपत्र" इस तथ्य का संकेत रूप है कि मानव-जीवन से दर्द को निःशेष कर देने से कुछ भी शेष नहीं रहेगा । "निर्मला" (प्रेमचन्द) और

"नारी" [सियारामशरण गुप्त] और "त्यागपत्र" यह तीनों उपन्यास नारी-जीवन की त्रासदी को स्थापित करने वाले उपन्यास हैं ।

"त्यागपत्र" की कथा बहुत ही संक्षिप्त है । मृणाल के माता-पिता काल-कवलित हो गये हैं । पितातुल्य बड़े भाई के संरक्षण में वह पली-बढ़ी । भाभी का कठोर अनुशासन । प्रमोद [भतीजा] मृणाल से कुछ ही साल छोटा है । वह अपना सारा प्रेम उस पर उँडेलती है । वह अपनी तमाम बातें उससे करती है । घर में बहुत ही गंभीर दिखनेवाली मृणाल स्कूल में, प्रमोद के साथ तथा अपनी सहेली शीला के घर में बहुत ही चंचल हो जाती है । ऐसे में सहेली शीला के भाई से मृणाल को प्रेम हो जाता है । वस्तुतः यह (Adolescent Period) अवस्था का भावनात्मक प्रेम है । उसमें काम या वासना का अभाव है । वह देर-देर तक शीला के यहाँ रहती है । एक दिन बहुत ही ज्यादा देर हो जाती है । भाभी द्वारा बहुत बुरी तरह से पिटाई होती है । शीला के भाई से प्रेम की बात को सुनकर भाभी आगबबूला हो जाती है और जल्दी-जल्दी में उसका ब्याह एक अधेड़ से कर दिया जाता है । इसके बाद अपनी सोच और ईमानदारी में पति के सम्मुख पूर्व-प्रेम का इकरार, पति द्वारा बहुत पिटाई, उपेक्षा, ताने-उलाहने, पति-गृह से एक बार भाग आना, गर्भवती अवस्था में कमालगोटा खाने से हालत का बिगड़ना, भाई-भाभी द्वारा समझा-बुझाकर वापिस भेजना, मृणाल द्वारा फिर उस घर में कभी न लौटने का निर्णय, पति द्वारा छोड़ दिया जाना, कोयले के बनिये की सहानुभूति, उसके साथ दूसरे शहर में जाकर रहना, क्या होकर बनिये को समर्पित, प्रमोद का एक बार वहाँ जाकर मिलना, बनिये द्वारा भी त्याग दिये जाना क्योंकि वह बालबच्चेदार व्यक्ति था, केवल मृणाल के रूप पर मोहित होकर उसके साथ

चल पड़ा था , मृणाल भी इस बात को जानती थी कि एक दिन वह उसको भी छोड़कर चला जायेगा , बनिये का गर्भ , ईसाई अस्पताल में बच्ची का जन्म , कुपोषण के कारण बच्ची की मृत्यु , फिर एक सम्पन्न परिवार में आश्रय , उस घर के बच्चों को पढ़ाना , उसके शालीन व्यवहार से सभी प्रसन्न , उसी परिवार में प्रमोद के रिश्ते की बात का चलना , लाख प्रयत्नों के बावजूद प्रमोद की भावुकता के कारण उसके रिश्ते का पता चल जाना , उस सबब रिश्ते का टूट जाना , मृणाल का वहां से भी निकाला जाना , अन्त में एक दिन बहुत ही गंदी झोंपड़पट्टी जैसी बस्ती में उन्हीं लोगों के बीच मृणाल की मृत्यु । ये ही सब घटनाएँ उपन्यास में चित्रित हुई हैं ।

अतः हम देख सकते हैं कि "त्यागपत्र" की कथावस्तु पूर्णतया मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अनुरूप है । मनोवैज्ञानिक उपन्यास पाठक के मन में अनेक प्रश्नों को जगाता है । यहां भी ऐसा ही हुआ है । मृणाल यदि अपनी भाभी से सत्य हकीकत न बताती , मृणाल यदि अपने पति से पूर्व-प्रेम की बात न कहती , मृणाल यदि बनिये को न जाने देती , पति के त्यागे जाने पर यदि वह पुनः भाई-भाभी के पास चली जाती , बनिये द्वारा छोड़े जाने पर वह ईसाई अस्पताल को ही अपना कार्यक्षेत्र बना लेती , बच्ची ईसाइयों को सौंप देती , जिस घर में बाद में आश्रय पाती है वे उसके वर्तमान को ही देखते , उसके अतीत को न देखते , भाई के गुजर जाने के बाद और प्रमोद के विवाहित होने पर वह उसके पास चली जाती , प्रमोद जब गंदी बस्ती में जाता है , उसे लेने , तो वह चुपचाप दूसरों का ख्याल किए बिना उसके साथ चल देती ; यदि ये सब "यदि" होते तो "त्यागपत्र" की कहानी क्या होती ? उपन्यास के प्रारंभ में ही लेखक उसका जवाब दे देता है —

" पिता (प्रमोद के पिता) प्रतिष्ठावाले थे और माता अत्यन्त कुशल गृहिणी थीं। जैसी कुशल थीं, वैसी कोमल भी होतीं तो ? पर नहीं उस "तो- ?" के कुछ में नहीं पड़ना होगा। पड़े कि गये। फिर तो सारी कहानी उस कुंड में निगलकर लग जाएगी और उसमें से निकलना भी नसीब न होगा।" 50

एक अंग्रेज लेखक ने बिलकुल सही कहा है — "But the life is full of 'ifs' and 'but's' and the human being is helpless nothing to but accept the cruel desting."

मृणाल भूल जाती है कि यह झूठों का संसार है। यहां सच्चों के लिए कोई स्थान नहीं है। सबके अपने-अपने किनारे हैं। मझधार में उतरने की हिम्मत कोई नहीं करता। माना कि जीवन को हमेशा प्रयोगों की आवश्यकता रहती है, किन्तु अपने जीवन के साथ प्रयोग कोई नहीं करता। सच्चे लोग यहाँ " ही साबित होते हैं। इसलिए डा. रघुवीर सिंह इसे "सूक्ष्म व्यंग्य" का उपन्यास कहते हैं, तो डा. देवराज उपाध्याय इसे "आत्मा की त्रासदी" (Tregedy of Soul) कहते हैं।

(6) <u>कल्याणी :</u>

"कल्याणी" में लगभग "त्यागपत्र" वाली कथन-पद्धति को अपनाया गया है। प्रधान पुरुष के वाचक वकील साहब को लेखक जानने का दावा करता है। कल्याणी वकील साहब की मित्र थी और उसकी कहानी जो एक रजिस्टर में लिखी हुई थी, कुछ परिवर्तन करके उसे ही कल्याणी के मृत्यु के उपरांत प्रकाशित किया गया। निश्चय ही कथा-उपस्थापन की यह पद्धति अत्यन्त

चमत्कारपूर्ण है । उपन्यास की कथावस्तु इस प्रकार है :--

कल्याणी एक धनी सिन्धी परिवार की कन्या है । विदेश में जाकर उसने डाक्टरी की डिग्री हासिल की है । प्रवास में ही एक भारतीय पुरुष से उसका परिचय होता है । परन्तु वह उसके प्रेम को नकार देती है । देश लौट आने पर डा. असरानी उससे विवाह करना चाहते हैं , पर और कोई उपाय न देखकर वे उसे अनेक तरह से लांछित कर देते हैं और अन्ततः कल्याणी परिवार की प्रतिष्ठा के लिए उनसे विवाह कर लेती है । विवाह तो हो जाता है , किन्तु असरानी दम्पत्ति सुखी नहीं रहता । कल्याणी उस पूर्व-परिचित पुरुष को कभी भुला नहीं सकती । असरानी से विवाह के बाद कल्याणी पूर्णतया गृहिणी धर्म बनाना चाहती है , परन्तु डा. असरानी की "प्रेक्टिस" अच्छी नहीं चल रही थी , अतः वे चाहते हैं कि कल्याणी "प्रेक्टिस" करे । कल्याणी डा. असरानी के सामने एक शर्त रखती है कि उसके बाद वह उसके किसी काम में हस्तक्षेप बरदाश्त न करेगी और पर-पुरुष को लेकर उस पर किसी प्रकार का अविश्वास न किया जायेगा । शुरू में तो डा. असरानी बड़े प्रसन्न होते हैं , किन्तु बाद में कल्याणी के विषय में डा. भटनागर तथा किसी रायसाहब को लेकर प्रवाद फैलने लगते हैं और ऐसी ही किसी बात पर कल्याणी को घर से बाहर निकाल दिया जाता है । इस पर पांच-छः रोज कल्याणी किसी अज्ञात स्थान पर रहती है । ऐसा भी कहा जाता है कि पति ने उसे बुरी तरह से पीटा था । समाज की आधुनिक शिक्षित महिलाओं की ओर से कल्याणी को उकसाने का भी प्रयत्न होता है , किन्तु कल्याणी टस से मस नहीं होती । उल्टे वह स्वयं को दोषी बताती है । वह कहती है कि पति तो उसे बहुत चाहते हैं , पर वही उनके योग्य नहीं है और उसकी गलती पर उन्होंने कुछ कह-सुन लिया हो तो वह कोई याद रखने लायक बात नहीं है । पति-पत्नी में ऐसी बातें तो चलती ही

रहती है ।

यहाँ से कल्याणी के जीवन में एक प्रकार की रहस्यमयता का प्रवेश होने लगता है । डा. भटनागर के संदर्भ में जो प्रवाद चलते हैं, वह स्वयं उसका परिहार कर देती है । राय साहब के साथ उसका कोई अनुचित संबंध है ऐसा कोई संकेत उपन्यास में नहीं मिलता । पति के लिए वह आदर और श्रद्धा का भाव प्रकट करती है, किन्तु एक अन्य स्थल पर वह कहती है -- "अपने भाग्य को दुर्भाग्य बनानेवाली क्या मैं ही नहीं हूँ ? मैं तो अपने से ही नाराज़ हूँ । सोचती हूँ कि मैंने अपना यह क्या कर डाला ?"[5] उसका कहना है कि अगर उसे नया जन्म मिले तो वह नकारके न चलेगी, फिर चाहे उसका जो भी परिणाम निकले । अतः उस भारतीय पुरुष को नकारने से मानो उसके जीवन की शुरूआत ही गलत तरह से हो गयी और इस जीवन को वह मानो खत्म कर देना चाहती है ।

उपन्यास में उसके जीवन के कुछ नये पहलू भी सामने आते हैं । विदेशी-शिक्षा-प्राप्त होने के बावजूद भी आर्य-परंपरा के अनुरूप वह नारी के गृहिणी रूप को ही प्राधान्य देती है । स्त्री-स्वातंत्र्य की भी वह घोर विरोधी है और मातृत्व में ही नारी-मुक्ति को देखती है । सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा उसकी दृष्टि में श्रेय है । इष्ट देवता जगन्नाथजी की भक्ति में वह पूरी तरह से तन्मय हो जाती है । एक बार भोजन करती है, चार बार स्नान, दिनमें कम-से-कम चार घण्टे मंदिर को देती है । आत्मा-परमात्मा, इहलोक-परलोक, मृत्यु, अतीत की सत्ता जैसे तत्वों के प्रति वह जिज्ञासु है । एक भौतिकतावादी संस्कृति में पली उच्च-शिक्षा प्राप्त सुंदरी युवती में इन चीजों को देखकर आश्चर्य होता है । शायद अपने जीवन से वह इतनी निराश हो गई है कि अपनी मानसिक धारा को दूसरी ओर मोड़ने के लिए इन बातों की ओर वह प्रवृत्त होती है ।

किसी साहित्यिक-आयोजन में कल्याणी के व्यक्ति-व्यक्तित्व को ~~xxxxx~~ मानपत्र मिलने वाला है । कल्याणी को एक मरीज को देखने जाना पड़ता है । वह मरीज डा. भटनागर की पत्नी थी । अतः वह उस आयोजन में पहुँच नहीं पाती । डा. आसरानी इस बात पर इतना क्रुद्ध हो जाते हैं कि बीच बाजार में कल्याणी को तांगे से खींचकर जूतों से उसकी पिटाई करते हैं । वह बाह्यतः फिर भी प्रशान्त रहती है । किन्तु वह अब मृत्यु की भाषा में सोचने लगी है -- " मैं क्यों जीती हूं ? बताइये , मैं क्यों जीती हूं ? आप नहीं बता सकते । लेकिन मैं बताती हूं । मैं इस पेट के बच्चे के लिए जीती हूं । बस , यही अभागा है जो मुझे मरने नहीं देता । मैं मरी तो वह भी नहीं जन्मेगा । इसीसे मैं मर भी तो नहीं पाती । " [52] पुत्र-जन्म के उपरांत वह स्वस्थ थी , प्रसन्न थी । लेकिन कुछ देर बाद अचानक हृदय की गति रुक जाने से उसकी मृत्यु हो गई । मानो तब तक के लिए ही वह जीना चाहती थी ।

जिन दिनों कल्याणी पेट से थी , उसे लगता है कि उसके घर में प्रेत आते हैं । वह देखती है कि एक अत्यन्त सुंदरी , छरहरे बदन की , गर्भवती स्त्री की हत्या एक पुरुष द्वारा की जा रही है । वह विश्वास करने लगती है कि इस घर में पहले किसी स्त्री की हत्या की गई है और अप्राकृतिक मृत्यु के कारण अब उसका प्रेत उस घर में चक्कर काट रहा है । इसका आरोप वह अपने नये मित्र देवलालीकर पर लगाती है । वे पहले उधर रहते थे । वह उन पर आरोप लगाती है कि उसने अपने घर में रात को उस प्रेत-स्त्री की हत्या करते हुए देवलालीकर को देखा है । वस्तुतः यह उसकी चेतना का "हैल्यूसिनेशन" ही है । वस्तुतः हत्या की शिकार वह गर्भवती स्त्री , और कोई नहीं , बल्कि कल्याणी ही है । और जिसके द्वारा हत्या हो रही है वह उसके पति डा. आसरानी हैं । किन्तु कल्याणी की

संस्कार-ग्रस्त नैतिक-भावना (Morality) उस पति-घृणा को देवलालीकर की ओर सम्प्रेरित कर देती है। उस नैतिक-भावना से पुष्ट उसका चेतन-मन यह विश्वास करना चाहता है कि उस स्त्री की हत्या करनेवाला पुरुष देवलालीकर है। दूसरे उसके मन में देवलालीकर को लेकर जो प्रवृत्ति चल रही थी, वह तभी दूसरे रास्ते पर जा सकती थी जब उसे गलत सिद्ध किया जाए। अपनी इस मानसिक यंत्रणा के संदर्भ में एक स्थान पर कल्याणी कहती है —

" फिर मैं क्या करूं ? नशा करती हूं तो कौन कहनेवाला है कि क्यों करती हूं ? धर्म भी किया है, पर करके देख लिया है। उससे क्या हुआ। तबियत होती है कि सब फाड़ दूं। सब फेंक दूं। मैंने ईश्वर में विश्वास किया। मैं उसकी राह चली। इस घड़ी तक चली। चलते- चलते मेरे सामने पड़ते हैं ये देवलालीकर। बचकर मैं कहां जाऊं ? उनके सामने पड़ने पर और राह मुझे बन्द है। ईश्वरकी राह पर अनीश्वरता मिलती है, तब मैं क्या करूं ? इससे अब मैं कहती हूं कि अच्छा, यही हो। मैं भी अब और कुछ नहीं चाहती। मैं निराली नहीं हूं। मेरा मन जानता है, मैं लाचार हूं। तो नशा ही करूंगी। मैं सब भूल जाना बरहेख चाहती हूं। मैं नफ़रत करना चाहती हूं। अपने से, सबसे। ईश्वर प्रेम है और प्रेम प्रवंचना है। इससे ईश्वर प्रवंचना है।" 53

इन्हीं दिनों प्रीमियर दिल्ली आनेवाले हैं। प्रीमियर विदेश के वही मित्र हैं जिनसे कल्याणी से निराशा प्राप्त हुई थी। अभी तक वे अविवाहित हैं और शायद जिंदगीभर अविवाहित ही रह जाएं। उनके आगमन पर उनके स्वागत की तैयारी कल्याणी को ही करनी है। पति की ओर से अनुनय है। और इस अनुनय का भी एक कारण है। डा. असरानी सोचते हैं कि यदि प्रीमियर का अच्छा रुख रहा तो पहले ही साल पचास हजार रुपये पन

जायेंगे और आगे दूसरे काम मिल सकते हैं । कल्याणी इसे अपने स्नेह-संबंध को जुए पर लगाना समझती है । पति भी इस बात पर उसका मरने को भी चाहता है । पर वह विवश है । न चाहते हुए भी पति की इच्छा के विरुद्ध वह नहीं जा सकती । आत्मा की बरबादी और क्या होती है ? जहाँ कल्याणी विशुद्ध भावना है, वहाँ डा. असरानी विशुद्ध व्यावसायिक व्यक्ति जो प्रेम को भी एक प्रकार का business समझता है ।

डा. कालानी शायद सही कहते हैं — "करुणा की जितनी तीव्र अन्तर्धारा जैनेन्द्र की इस रचना में बहती है मिलती है उतनी कदाचित् अन्य किसी उपन्यास में नहीं । कल्याणी अपने रहस्यमय किन्तु कारुणिक व्यक्तित्व से पाठक की चेतना पर इतना गहरा प्रभाव छोड़ती है कि उसके नैतिक-अनैतिक पक्ष को वह रूढ़ि-ग्रस्त भावना से जाँचना ही नहीं चाहता । कल्याणी के प्रति उसमें सहानुभूति और करुणा की ही उद्भूति होती है ।" 54

(7) सुखदा : (1952) :

"त्यागपत्र" की ही भाँति "सुखदा" की कथा को भी लेखक ने नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है । "आरंभिक" में लेखक ने बताया है कि "सुखदा" की कहानी गल्पमात्र न होकर सुखदा की वास्तविक कहानी है । यह एक आत्मकथा है जिसे स्वयं सुखदा ने लिखा है । कथा को पूर्वदीप्ति-शैली (Flash back) में प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार उसमें सुखदा ने अपने अतीत-जीवन को लिपिबद्ध किया है । जो कुछ भी सामने आता है, सुखदा के माध्यम से ही आता है ।

यहाँ पति-पत्नी के रूप में कान्त और सुखदा हैं । वहाँ " त्यागपत्र " की मृणाल का पति क्रूर और कठोर है । अधिकार-भावना से युक्त है । यहाँ सुखदा का पति कान्त आवश्यकता से अधिक उदार है । उसमें अधिकार-भावना का सर्वथा अभाव है । सुखदा एक सुखी-संपन्न परिवार की लड़की है । लाड़-प्यार और सुविधाओं में पली है । कान्त एक सामान्य मासिक 150 रुपये पानेवाला सरकारी मुलाजिम है । विवाह के बाद का कुछ समय तो मुग्धता में गुजर जाता है , परन्तु फिर असंतोष और अभाव के भाव सुखदा के मन को घेरने लगते हैं । सामाजिक और राज-नीतिक जीवन की ओर सुखदा उन्मुख होने लगती है । ऐसे में लाल नामक एक व्यक्ति की ओर सुखदा आकर्षित होती है । उसका संबंध क्रान्तिकारी संघ से था । सुखदा को क्रान्तिकारी संघ की उपाध्यक्षा चुन लिया जाता है ।

लाल के मुक्त , स्वच्छंद और रहस्यात्मक चरित्र से सुखदा उसकी ओर आकृष्ट होती है । कान्त को लाल पर भरोसा नहीं है । उसकी देशभक्ति को लेकर भी वह सशंकित है । कान्त में कोई अधिकारभाव नहीं है , लाल को लेकर उसे ईर्ष्या भी नहीं है । वह केवल सुखदा के भविष्य को लेकर चिंतित है । अतः लाल के प्रति सुखदा के मन में विरक्ति-भाव जगाने में वह किंचित् सफल भी हो जाता है ।

किन्तु तभी एक ऐसी घटना घटित हो जाती है कि सुखदा पुनः लाल को चाहने लगती है । लाल को उसके दल की ओर से मृत्यु-दण्ड सुनाया जाता है । अतः सुखदा की सहानुभूति पुनः लाल की ओर जागृत होती है । लाल और सुखदा के प्रेम को जानकर कान्त उन दोनों को एक ही कमरे में साथ रहने की व्यवस्था भी करवा देता है । अपनी असुविधा और पीड़ा को सर्वथा भुलाकर वह केवल सुखदा के बारे में ही सोचता है ।

सुखदा के प्रति अधिकार-भावना उसमें पहले भी नहीं थी , अब तो वह उसे और भी स्वतंत्र छोड़ देता है । कान्त समझता है कि विवाह में समर्पण सहज होता है , सायास नहीं । जो अनायास नहीं , वह समर्पण नहीं अपितु दमन और शोषण होता है । उसे कोई मानसिक या आत्मिक शोषण भी मान सकता है । एक स्थान पर वह सुखदा से कहता है —

" तुम्हारा मुझसे विवाह हुआ है , हरण तो नहीं । विवाह में जो दिया जाता है वही आता है । पराधीनता कहीं और से नहीं आती । सुनो सुखदा , स्वतंत्रता तुम्हारी अपनी है और कहीं आने-जाने में मेरे ख्याल से रोक-टोक ~~xxxxx~~ मानना खुद पर आरोप डालना है । मुझसे पूछो तो तुम्हें अपने में प्रतिरोध लाने की कोई आवश्यकता नहीं है ।" 55

कान्त के ऐसे विचार सुखदा के मर्म को भी छू जाते हैं , किन्तु अपनों और सपनों के साथ जुड़ते ही उसका रूप बदल जाता है । उधर संघ के नेता हरीश और लाल के वैचारिक विरोध बढ़ते जाते हैं और अन्त में हरीश संघ का विघटन कर देता है । सुखदा ~~xx~~ जब बहुत दिनों के बाद अपने घर की बुरी दशा देखती है , तो वह फिर कान्त के साथ रहने लगती है , पर तभी एक और घटना घटती है जिससे कान्त के प्रति वह वितृष्णा से भर आती है । हरीश के ही आग्रह पर कान्त पुलिस का मुखबिर बन जाता है और हरीश को पकड़वा देता है । इस घटना के बाद वह कान्त को नफ़रत की निगाहों से देखने लगती है । लाल के प्रति सुखदा में अब भी अनुरक्ति का भाव था , पर वह तो शहर छोड़कर कहीं भाग गया था , अतः सुखदा अपनी माँ के पास चली जाती है । उसके बरसों बाद एक हिल-स्टेशन के सेनेटोरियम में क्षय की रोगिणी के रूप में हम सुखदा को ~~xxxxx~~ पाते हैं । अपने अतीत को लेकर उसमें पछतावा है । अब

उसमें कुछ शेष नहीं रह गया था । मृत्यु समीप है । अपने परलोक के संबंध में उसमें घोर निराशा के भाव पाये जाते हैं । वह सोचती है कि नरक वहाँ उसके लिए तैयार है । अपनी आत्मकथा के संदर्भ में वह कहती है --

" [ऐसी दशा में] वक्त काटने के लिए कहती हूँ । सच कहूं तो मुझमें लोभ बना हुआ है कि कभी यह कहानी छपे और लोगों की नज़रों में आये । ऐसा हुआ और लोगों की करुणा मुझे मिली तो आशा करती हूँ कि अपने परलोक में मुझे सान्त्वना पहुँचेगी ।" 56

[8] विवर्त : [1953] :

अब तक के जैनेन्द्र के उपन्यास नायिका-प्रधान रहे हैं, यह प्रथम उपन्यास है जो नायक-प्रधान है । किन्तु उसका भी नायक ~~xxxxxxx~~ नायिका का पति न होकर उसका पूर्व-प्रेमी है । उपन्यास की कथा मुख्यतया जितेन, भुवनमोहिनी और नरेश के बीच गुंथी गई है । भुवनमोहिनी ~~a~~ दिल्ली के एक सुप्रसिद्ध जज की पुत्री है । जितेन और मोहिनी सहपाठी हैं और परस्पर चाहते हैं । किन्तु जितेन सोचता है कि मोहिनी अमरजादी है । मोहिनी इस अंतर की बात को ज्यादा तवज्जो नहीं देती है -- " यह कैसा प्रेम है जो मुझमें मुझको ही नहीं अमीरजादी को देखता है ?" 57 जितेन में इस वर्गभेद की चेतना, ग्रन्थि या विवर्त के कारण जितेन और मोहिनी का विवाह नहीं होता है । जितेन प्रतिभाशाली है । पर इसी "विवर्त" के रहते वह आई.सी.एस. में भी नहीं बैठता और नगर छोड़कर किसी अज्ञात स्थान पर चला जाता है । मोहिनी का विवाह इंग्लैण्ड से लौटे बैरिस्टर नरेश के साथ हो जाता है । नरेश भी जैनेन्द्रीय नायकों की कोटि में ही आता है । वह भी "सुनीता" और "सुखदा" के पतियों की तरह अत्यन्त उदार दिखलाता है ।

विवाह के चार वर्ष बाद जितेन मोहिनी के जीवन में पुनः पदार्पण करता है । उसके आगमन के एक रात पहले पंजाब मेल को गिराई गयी थी — हत तिरसठ, आहत दो सौ पन्द्रह । यह कार्य जितेन और उसके साथियों का था । आत्म-सुरक्षा की दृष्टि से जज का घर एक अत्यन्त सुरक्षित स्थान हो सकता है । अतः जितेन वहां पहुंच जाता है । इसके साथ उसके अन्तर्मन में मुन्न को देखने की या यह अहसास कि क्या मुन्न उसे अब भी उतना ही चाहती है, यह देखने-परखने की लालसा भी रही हो । ज्वरग्रस्त होकर वह कई - कई दिन मोहिनी के यहां रहता है । मोहिनी उस निराश और भग्नाश प्रेमी के प्रचण्ड विनाशक रूप को देखकर स्नेह और करुणा से अभिभूत हो जाती है । नरेश का मोहिनी पर अटूट विश्वास है, किन्तु जितेन की प्राण-रक्षा का विचार कर वह अपने पति को जितेन के व्यक्तित्व के बारे में नहीं बताती । वह यह बात छिपा ले जाती है कि जितेन एक वर्ग-विद्रोही क्रान्तिकारी गुट से सम्बद्ध है । उस रुग्णावस्था में जितेन बार-बार मोहिनी के उस ऐश्वर्य की तुलना समाज के दरिद्र वर्ग की जर्जरीभूत दशा से करता है और उस वैषम्य से उसका विद्रोह और भी भड़कता है । साम्यवादी विचारों से पुष्ट अपने मनोभावों को वह कई बार मोहिनी के सामने जोश के साथ अभिव्यक्त करता है ।

दूसरी तरफ नरेश-मोहिनी के अखण्ड, सम्पूर्ण, आश्वस्त और विश्वस्त प्रेम को देखकर वह कई बार अन्दर ही अन्दर जल-भुन भी जाता है । थोड़ा स्वस्थ होने पर जितेन एक रात मोहिनी के आभूषणों की चोरी करके अपने डेरे पर पहुंच जाता है । वह चाहता है कि इन आभूषणों के बदले मोहिनी उसके दल को पचास हजार रुपये नकद दे । लेकिन मोहिनी उसके इस प्रस्ताव को ठुकरा देती है । इस पर वह मोहिनी का अपहरण कर लेता है और उसे

तरह-तरह की धमकियाँ दी जाती हैं । किन्तु तभी जितेन का हृदय-परिवर्तन होता है और वह असीम यातना और मानसिक संघर्ष के उपरांत क्रान्ति से श्रद्धा खो बैठता है और अपने साथियों की सुरक्षा तथा दूसरी अनेक प्रकार की व्यवस्थाओं को अन्जाम देकर पुलिस के सामने आत्म-समर्पण कर देता है । मोहिनी के अनुरोध पर नरेश न्यायालय में जितेन के पक्ष में पैरवी के लिए भी राजी हो जाता है, किन्तु स्वयं जितेन नहीं चाहता कि उसे बचाने के लिए किसी भी प्रकार के प्रयास किये जाये ।

उपन्यास के आवरण-पृष्ठ पर कहा गया है कि यह एक पराक्रमी और तपस्वी पुरुष की कहानी है जो अपराध की राह पर चल पड़ता है । उपन्यास को पढ़ जाने पर प्रतीत होता है कि अपराध व्यक्ति का स्वभाव नहीं है । किन्तु व्यक्ति के मन में मानो कहीं दबाव है, ग्रन्थि है, विवर्त है जिसके कारण स्वभाव का विलोमीकरण हो जाता है । हिंसा वृत्ति का खंडन और अहिंसा-वृत्ति का उपार्जन जैनेन्द्रजी के उपन्यासों का एक लक्ष्य होता है । प्रस्तुत उपन्यास में भी उसे परिलक्षित किया जा सकता है ।

(9) व्यतीत (1953) :

"सुखदा" की भाँति "व्यतीत" भी आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है । उसका नायक जयन्त है । अपनी पैंतालीसवीं वर्षगांठ पर जयंत अपने जीवन के अतीत -- "व्यतीत" -- पर एक नज़र डालता है तो व्यर्थता के बोध से उसका मन पीड़ित हो उठता है । अतः यहाँ भी पूर्वदीप्ति (Flash back) का सहारा लिया गया है । वह अपने अतीत का सिंहावलोकन करता है । उस दशा में वह जो कुछ देखता है, वही इस उपन्यास का कथ्य है । "व्यतीत" की कथा के तानों-बानों में भी प्रेम के उपादानों

को लिया गया है । किन्तु यहाँ भ्रान्तिपरक प्रासंगिक कथा नहीं है, जिसका प्रयोग लेखक ने अपने एकाधिक उपन्यासों में किया है । इसके अलावा प्रेम का स्वरूप भी त्रिभुजाकार न रहकर कुछ विस्तृत हो गया है । अतः जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों में जहां एक ही दो नारी पात्र होते हैं, यहां नारी पात्रों की संख्या बढ़ गयी है । वस्तुतः "व्यतीत" एक पुरुष की एक नारी के प्रति रुग्ण-आसक्ति (Morbid-Fixation) के दुष्परिणामों की कथा है । यह नारी है अनिता । दूर के रिश्ते में नायक जयंत की बहन लगती है । वह अनिता को प्राणपण से चाहता है । किन्तु अनिता से उसका विवाह नहीं हो सकता । अनिता का विवाह पुरी नामक एक व्यक्ति से हो जाता है । इस निराशा से जयंत की बुद्धि इतनी तमसावृत्त हो जाती है कि बी.ए. में प्रथम आने के बावजूद न वह सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठता है और न ही आगे अपनी पढ़ाई जारी रखता है ।

"त्यागपत्र" की मृणाल जहां आत्मपीड़क (Saddist) चरित्र है, वहां जयंत के चरित्र के ताने-बाने, आत्मपीड़क एवं परपीड़क (Machoist) दोनों से बुने हुए हैं । अपने नजदीकी स्नेहीजनों को पीड़ित करने के लिए ही वह स्वयं को कष्ट देता है । इस घोर नैराश्य के विस्फोट का प्रारंभ तब होता है जब अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध जाकर 75 रुपये महीने की एक फर्म की लहसंपादकी की नौकरी के लिए घर छोड़कर चला जाता है । अपने निश्चय पर अडिग रहने के लिए पिता को कभी अपनी शक्ल न दिखाने की प्रतिज्ञा करता है । अनिता उसे मनाने के लिए जाती है, पर वह अपनी नौकरी छोड़ने के लिए राजी नहीं होता है । उसके पिता अस्वस्थ हैं फिर भी वह लौटने को तैयार नहीं होता । पिता के श्राद्ध पर ही वह वापिस आता है । अनिता चाहती है कि जयंत अपना घर बसाये और पुनः नौकरी पर न जाकर एक संपन्न गृहस्थ व्यक्ति का जीवन बिताये,

किन्तु जयंत बंध नहीं पाता और अपनी नौकरी पर वापिस चला जाता है । अनिता के बाद उसके जीवन में सुमिता का प्रवेश होता है । वह उसके संपादक की पुत्री है । संपादक के कहने पर वह उसे पढ़ाने जाता है । धीरे-धीरे सुमिता जयन्त की ओर उन्मुख होती है , किन्तु जयंत की प्रतिक्रिया कुछ ठण्डी रहती है । वह सुमिता को कहता है कि वह उसके योग्य नहीं है । उसके बाद वह उस शहर से भी भाग जाता है ।

अब की बार प्रेम की असफलता से उत्पन्न जयंत का "अहं" एक नया रूप धारण करता है । वह उस समय चल रहे विश्वयुद्ध में भाग लेने के लिए आर्मी में दाखिल हो जाता है । वस्तुतः यह "परहिंसा" नहीं आत्महिंसा" ही है । वह मारने नहीं , मरने की इच्छा से ही वहां जाता है । कमीशन लेने के उपरांत जयन्त जब शिमला पहुँचता है तो उसके जीवन में एक दूसरी नारी पदार्पण करती है । वह उसके मित्र कुमार की "कज़िन" चन्द्री है । वह जयन्त के प्रति आकृष्ट होती है । दोनों में कुछ इस प्रकार की घनिष्ठता बढ़ती है कि वे विवाह कर लेते हैं । चन्द्री की ओर से तो यह प्रेम और विवाह एक स्वस्थ प्रक्रिया है , किन्तु जयन्त में उसे स्वस्थ नहीं कहा जा सकता । अतः यह विवाह भी असफल रहता है । जयन्त प्रेम के बारे में सोचता है कि वह तो अनिता के साथ ही गया , सदा-सदा के लिए , उसके मन की "मरूभूमि" में वह वस्तु तो अब कभी आनेवाली नहीं । कश्मीर में मनाये गये "हनीमून" में घनिष्ठता बढ़ती ही नहीं , घटती ही है । अनिता के कारण उन दोनों में व्यवधान बढ़ता ही जाता है और चन्द्रा जयंत को छोड़कर चली जाती है । चौथी स्त्री जयन्त के जीवन में तब आती है जब वह युद्ध में घायल होकर अस्पताल में भर्ती होता है । वह उसके होमियोपैथ डाक्टर कपिल की पत्नी है और इसलिए जयंत उसे "कपिला" नाम देता है ।

कपिला अत्यन्त सहृदया और सेवाभावी स्त्री है । उससे उसको बहन का प्यार मिलता है जो मान-अपमान के भाव से परे है । इस बीच चन्द्री जयंत को मनाने का एक बार पुनः यत्न करती है , किन्तु जयंत का "अहं" उसे कठोर बना देता है और वह नहीं पिघलता । तभी अनिता आती है और उसे दूर ले जाती है । अनिता ने अपना मन पका लिया है । वह जयंत की इस ग्रन्थि को एकबारगी उत्म कर देना चाहती है । अतः कलकत्ता के एक होटल के एकान्त कक्ष में वह जयंत को समर्पित हो जाना चाहती है , किन्तु तब फिर एक बार जयंत का "सुपर ईगो" जोर मारता है और वह अपनी चिर-प्रतीक्षित इच्छा का गला घोंटते हुए अनिता को विदा करते हुए साधु वेश धारण कर लेता है ।

अब पैंतालीसवें वर्ष पर जयन्त अपने विगत जीवन "व्यतीत" पर दृष्टिपात करता है । उसके ही शब्दों में —" मैं कहता हूं अब व्यर्थता का बोध चारों ओर से शिरा-शिरा को बेधकर मुझे जर-जर किये जा रहा है । अपने में अपने को लिये चला गया , कहीं पूरी तरह देकर खतम नहीं कर सका । इसीसे तो आज पाता हूं कि मैं हूं और अभी मृत्यु से कुछ अन्तर पर हूं । .... कहीं अर्थ शेष नहीं है । सिर्फ यह है कि इस मुझ नितान्त रीते अर्थहीन को लोग देखें और चेतावनी पायें । खेतों में डुरावे खड़े किये जाते हैं । वैसे ही शायद मैं हूं । एक ठूंठ जिससे लोग आगाह हों कि राह यह नहीं है ।" 58

जयन्त के उक्त शब्दों में उपन्यास का ध्येय व्यंजित हुआ है । इसमें अहंता के अशुभ परिणामों को दिखाकर लेखक शायद कहना चाहता है कि इस प्रकार का "अहं" जीवन में वांछनीय नहीं होता । उससे समाज की स्वस्थता और संतुलन प्रभावित होते हैं । एक असफल प्रेम से उत्पन्न अहम्मन्यता कितने-कितने जीवनों को कालिमाग्रस्त कर जाती है ।

(10) जयवर्द्धन (1956) :

रचना-विधान की दृष्टि से जैनेन्द्र का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है । इसे विल्बर ह्वेल्डन हुस्टन की डायरी के रूप में प्रस्तुत किया गया है । यह डायरी एक राजनयिक की डायरी है । हुस्टन की डायरी है, किन्तु कथा के केन्द्र में हुस्टन नहीं है । कथा के केन्द्र में तो है जयवर्धन और इला । इसमें पचास साल के बाद के भारत के चित्र को इला और जय के माध्यम से प्रस्तुत किया है । उपन्यास 1956 में लिखा गया है । उसके बाद के पचास साल अर्थात् लगभग 21 वीं शताब्दी का प्रारंभ का समय । डा. प्रभाकर माचवे, डा. विजय कुलश्रेष्ठ आदि विद्वान जहाँ इसे भविष्यवादी, युग सत्य निरूपक, मानवतावादी, विचारों का उपन्यास मानते हैं; वहाँ यशपाल परदे से बाहर का यथार्थवादी उपन्यास कहते हैं ।[58]

देश की राजनीतिक व्यवस्था और शासन स्तरीय गतिविधियों पर एक तात्त्विक चिंतन और विश्लेषण यह उपन्यास प्रस्तुत करता है । इस दृष्टि से इसे हम एक राजनीतिक उपन्यास भी कह सकते हैं । हुस्टन भारत की यात्रा पर है । ये उसकी डायरी के पन्ने हैं । उन्हें उपन्यास के हर पात्र का विश्वास प्राप्त है, अतः पात्रों का वैचारिक विश्लेषण और उनके रागात्मक संबंधों की विवेचना वह कर सके हैं । उसकी कथा अत्यन्त नीरस, बोझिल और ~~उबाऊ~~ उबाऊ है । दार्शनिक और राजनैतिक चिंतन के कारण यह बोझिलता आयी है ।

यह एक वृहदाकारीय किन्तु अस्पष्ट और उलझा हुआ उपन्यास है । कथाकार जैनेन्द्र के कहीं दर्शन नहीं होते । सर्वत्र दार्शनिक जैनेन्द्र छाये हुए हैं । इला प्रस्तुत उपन्यास की नायिका और नायक जयवर्द्धन की प्रेमिका है । वह अविवाहिता है पर सामाजिक रूढ़ियों और बंधनों की परवाह न करते हुए पिछले

बीस वर्षों से अपने प्रेमी जय के साथ रह रही है । जयवर्द्धन एक राजनैतिक व्यक्तित्व है और इस समय वह देश के सर्वोच्च पद – राष्ट्राधिप के पद पर है । तब तक शायद शासन-पद्धति में बदलाव आया होगा और प्रधानमंत्री के स्थान पर राष्ट्रपति [राष्ट्राधिप] जैसा कोई सर्वोच्च पद अस्तित्व में आया होगा । इस समय भी एक राजनीतिक तबके में प्रमुख-पद्धति को लाने की बात तो चल ही रही है । जैनेन्द्र ने इसकी कल्पना कदाचित बहुत पहले कर ली थी ।

जो भी हो , जयवर्द्धन राष्ट्राधिप है । वह आदर्शवादी और सिद्धान्तवादी है । विरोधी दलों की राजनीति के कारण वह राष्ट्राधिप के पद को छोड़ना चाहता है । एक राष्ट्राधिप के रूप में वह राज्य , समाज , व्यक्ति तथा देश की समस्याओं पर अपना दो टूक मत व्यक्त करता है । व्यक्तिगत जीवन में वह मुक्त प्रेम का पक्षधर है और उसे महत्त्व देता है । आचार्य की पुत्री इला से वह प्रेम करता है । इला उसकी सहायिका और प्रेरणा है । इला के साथ वर्षों-बरस रहते हुए भी उनमें शारीरिक संबंध नहीं है । इस संदर्भ में इला कहती है —" बात सच है । मैंने बापू को वचन दिया था । उन्होंने आस्था से उसे लिया और आगे एक शब्द नहीं कहा । मेरे प्रति वह आस्था सदा के लिए मेरी मर्यादा बन गई ... कृतज्ञ कृतज्ञ हूं कि जय ने कभी उस मर्यादा पर किंचित् रेख नहीं आने दी ... पर पूछती हूं । वह प्रेम है जिसमें मर्यादा दिखने को रह जाती है ? अंधा नहीं वह प्रेम है ।" 59

अपने प्रेम और स्त्री-पुरुष संबंधों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण भी एक स्थान पर हुआ है :—" कि सहसा मूर्ति मुड़ी । हाथ उसके बढ़े । मैंने सुना : इली ! वैसे हाथ बढ़ते मेरी ओर आते ही गए और प्यार से बिगड़ा मेरा नाम "इली" पहाड़ों पर से पहाड़ वाला गूंज-गूंज कर मेरे कानों के परदों पर

रामा

पड़ता मेरे सूनेपन में रमता चला गया ...उन हाथों ने मुझे न छुआ । आंचल के छोर को तनिक उठाया और उसे अपने होठों फिर आंखों से लगाया । मेरे सारे गात में कांटे सिहर आए । आंखें बंद हो गईं , कानों में फुरफुरी , मानो नीरव वाणी में सुनती गई ... इला ... री ...री ... और जाने कैसी पुकार थी । काल के जिस छोर से वह चली आई थी । मेरे सूनेपन में से बोल उठा : लो , लो , लो , मुझे लो ... तभी एक हल्का-सा परस मेरी उंगलियों को छू गया । सारे गात में एक साथ बिजली दौड़ गई और मैं वर्जन करती चिल्लाई : नहीं , नहीं , नहीं ।"[60]

किन्तु यह " नहीं , नहीं , नहीं " इला का एक नारी-सहज भाव था , नारी-सहज लज्जा का भाव । मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो चेतन-मन का "ईगो" । किन्तु उसका अन्तर्मन तो बराबर चाहता रहा कि जय उसे अपनी बांहों में लें । "वर्जन करती हो मैं अपेक्षा में रही कि कोई होगा जो मेरी "नहीं" नहीं सुनेगा और मुझे ले ही लेगा । इस अपेक्षा को ही "नहीं" में दोहराती गई , हाथों के वर्जन से आने वाले को हटाती और बुलाती चली गई ... पर हाथ किसे हटाकर बुला रहे थे ? ... आ रहा था वह चला गया था । उसकी पीठ फिर अब मेरी ओर थी और मुख सागर की ओर था ।"[61]

इस प्रकार यहां भी हम देखते हैं कि जय इला की झूठ-मूठ की नहीं" को सचमुच की "नहीं" समझकर पीछे हट जाता है और इला ठगी-सी और उपेक्षित-सी महसूस करती है । "व्यतीत" की अनिता के साथ भी यही होता है । कभी-कभी नारी पुरुष से एक विशेष प्रकार की प्रताड़ना या उद्दंडता चाहती है । जैनेन्द्र के पुरुष- पात्र यहां चूक जाते हैं । उनके अब तक के उपन्यासों में यह पहला उपन्यास है जिसमें प्रेयसी , प्रेयसी ही बनी रहती है किसी अन्य से उसका विवाह नहीं होता । लगभग बीस सालों का

प्रेयसीत्व । और अन्त में जब शिवधाम में जय के साथ उसका विवाह संपन्न होता है, तो विवाह के बाद अगले दिन जय सवेरे गायब हो जाता है और इला विवाह के बाद भी विरहिणी ही रह जाती है । इस प्रकार जहाँ वह प्रेयसी रूप में सफल होती है, वहाँ पत्नी रूप में असफल हो जाती है । यहाँ भी कदाचित् वही पुराना जैनेन्द्रीय दर्शन दृष्टिगोचर होता है । विवाह से पूर्व जय राष्ट्राधिप से त्यागपत्र दे देता है । बड़ी विकट राजनीतिक परिस्थितियों में वह इस पद को छोड़ता है । यहाँ भी वह असफल रहता है । राज-व्यवस्था के ट्रस्टीशिप का चिंतन अंत में बिना किसी निश्चय के ही छूट जाता है और शासन-भार को अराजक स्थितियों के बीच छोड़कर जय त्यागपत्र दे देता है । राष्ट्राधिप जैसा एक उत्तरदायी व्यक्ति ऐसा कैसे कर सकता है ? अतः डा. लक्ष्मीकान्त शर्मा के शब्दों में कहें तो उपन्यास का अन्त हमें कहीं भी ले जाकर नहीं छोड़ता । उपन्यास भविष्य की गलत तस्वीर तो पेश करता ही है, वर्तमान का भी सही चित्रण नहीं कर पाता । [62]

(ii) मुक्तिबोध (1965) :

"मुक्तिबोध" का कथानक "जयवर्द्धन" की तरह जटिल, उलझा हुआ, बोझिल और उबाऊ नहीं है । वह सीधा, सपाट, सरल और संक्षिप्त है । यह भी एक नायक प्रधान उपन्यास है, यद्यपि उसकी नायिका (?) एक व्यक्तित्वसंपन्न महिला है । यहाँ भी प्रश्न है कि नायिका किसे माना जाए ? नायक की पत्नी राजश्री को या नायक की प्रेयसी नीलिमा को ? पुराने मानदण्डों से नायिका राजश्री होगी, किन्तु आधुनिक मानदण्डों से नीलिमा । उपन्यास के नायक सहायबाबू एक राजनीतिक व्यक्ति हैं और कथा को आत्म-प्रतिपादन शैली में प्रस्तुत किया गया है । इसलिए उनका जीवन चिंतन, मनन एवं कर्म के माध्यम से अधिक मुखर हुआ है ।

सहायबाबू राजनीतिज्ञ हैं, पर आज के राजनेताओं की तरह घाघ, बेशरम और भ्रष्ट नहीं है। गांधीवाद का भी कुछ-कुछ प्रभाव उन पर लक्षित होता है। वे चिंतन-मनन के अधिक निकट है। कर्म उनमें स्वतः स्फूर्त नहीं होता है। वे कभी ठाकुर द्वारा (ठाकुर उनके विस्तार का है और उनका प्रबल समर्थक है), कभी नीलिमा द्वारा, कभी राघवी तो कभी भानुप्रताप (एक दूसरा राजनीतिज्ञ) के द्वारा संचालित होते रहते हैं। सहायबाबू एक शांत प्रकृति के आदर्शवादी नेता हैं। मंत्री भी हैं। वे पुनः गांव जाकर प्रकृति की शांत गोद में रहना चाहते हैं। राजनीति के दाव-पेंच और छल-छंद से वे ऊब गए हैं। अतः कामराज नादर योजना के तहत मंत्रीपद से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व और निर्भ्रान्त जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। परन्तु परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार का मोड़ लेती हैं कि चाहते हुए भी वे सत्ता से बाहर नहीं रह सकते हैं। उपन्यास का अंत बहुत कुछ कह जाता है —

"अंजलि तुम मेरी बेटी हो। लेकिन कुंवर को वक्त पर गलत रास्ते पर जाने से रोक नहीं सकती हो। बल्कि शायद बढ़ावा देती रही हो। पैसा आराम जो देता है, क्यों ?

" अंजलि बोली, " बाबूजी, मेरा दोष नहीं है। दोष उनका भी नहीं है। दुश्मन आपके हैं जो हमें फांसना चाहते हैं, और इस तरह बदनामी आपकी चाहते हैं। "

" बक बको मत अंजलि ... कुंवर ने जो पट्टी पढ़ाई, पढ़ गई। शर्म नहीं आती तुम्हें ? सुनो, मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ और भुगतना होगा फल उसका जो तुम लोगों ने किया है ?

" बाबूजी, बात संगीन हो गई है। गिरफ्तारी तक हो सकती है।" 63

सहाय अपनी बेटी अंजलि को तो बुरी तरह से फटकार देते हैं, किन्तु अपनी पत्नी राजी (राजश्री) को एक तरफ ले जाकर कहते हैं -- " मैं मिनिस्टर हो गया हूँ।" अचरज में राजी बोलती है -- सच! " ... " मेरे माथे पर तेवर थे और उसका चेहरा अविश्वास के बाद शनैः शनैः विश्वास में खिलता आ रहा था। .... विश्वास आया और वह तत्काल बेटी के पास भाग गई। ... और मैं कमरे में अकेला रह गया। अकेला, कि अपने तेवरों को आप ही सम्भालूं और जो भाग्य में हो उसे आप ही झेलूं।" 64

इस प्रकार जो सहायबाबू कामराज नादर योजना के तहत सत्ता से बाहर जाना चाहते थे, उन्हें न चाहते कुछ अपनों के लिए सत्ता में रहना पड़ता है, क्योंकि सत्ता में रहकर ही वे कुछ कर सकते हैं। यह राजनीतिक r वह दौर है जहां तक राजनीतिक लोगों में "आत्मा की आवाज" जैसी कोई चीज थी, धीरे-धीरे इसके विलुप्त होने का संकेत यहां मिलता है।

उपन्यास के प्रकाशकीय वक्तव्य में कहा गया है --
" "दुविधा" का इतना जटिल, इतना गहन, इतना विस्तृत चित्रांकन शायद ही कहीं किया गया हो। पद के स्नेह के प्रति एक रिजेक्शन की भावना प्रायः आम हो गई है, परन्तु उसके दूसरे पक्ष को अत्यन्त मौलिक और सशक्त रूप में समर्थ तर्क और युक्तियों से अनुभव के धरातल पर प्रस्तुत करने में जैनेन्द्र ने अपनी बौद्धिक क्षमता की तथा कला की नई अपूर्वता दिखाई है। अत्यन्त प्रौढ़ और प्रगल्भ मन के भावना-संसार को सहज रूप में प्रकट किया है। प्रौढ़ और परिपक्व प्रेम-भावना की अभिव्यंजना भी अत्यन्त संयत ढंग से करके इस लघुकाय उपन्यास को एक ऊंचा स्तर दिया है।" 65 इसे हम जैनेन्द्र की एक प्रौढ़ और परिपक्व औपन्यासिक कृति कह सकते हैं। उस साल का साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी ~~इसे~~ इसे प्राप्त हुआ था।

"मुक्तिबोध" उपन्यास की नायिका नीलिमा एक अद्भुत नारी-चरित्र है । डा. भारतभूषण अग्रवाल नीलिमा के चित्रण पर मुग्ध हैं — "नीलिमा में उन्होंने (जैनेन्द्र ने पहली बार आधुनिका का विवेकपूर्ण चित्रण किया है ।"[66] अपने प्रेमी सहाय से विवाह-पूर्व और विवाहेतर संबंधों को लेकर उसके मन में किसी प्रकार की कोई कुण्ठा नहीं है । उसके और उसके पति [illegible] मि. दर के बीच एक अलिखित समझौता है कि वह उसके कार्यों में दखल नहीं देगी और न दर उसके कार्यों में । पति के मार्ग में वह बाधा नहीं बनती और प्रेमी सहाय को निरंतर पूर्णता की ओर अग्रसर करती है । नीलिमा को लेकर सहाय को एक आत्मिक स्फूर्ति मिलती है — "समझ नहीं पाता कि नीला की शक्ति क्या है । पर शक्ति का अनुभव करता हूं । साथ होता हूं तो लगता है वातावरण उससे बनता है, मुझसे नहीं । परिस्थिति में जो मोड़ आता है उससे आता है ।"[67]

नीलिमा सहाय के लिए एक प्रेरक बल है, प्रेरणा है । जब सहाय राजनीति छोड़ने की बात करते हैं तब नीलिमा कहती है — "तुम नहीं लौट सकते" — इस कहने में मुझे कौन-सा राज मिल जाता है । लेकिन पुरानी बातें याद करो । तुममें सपने थे और तुम्हारी नज़र में उन सपनों को मैं आने लगी देखने लगती थी । आदमी सपने के लिए जीता है और औरत उस सपने के आदमी के लिए जीती है ।"[68]

सूरजकुण्ड में सूर्य-स्नान के आयोजन पर जब सहाय कतराते हैं तब बाद में फोन पर वह सहाय से कहती है — "मुझे नहीं मालूम था कि तुम कायर निकलोगे । जो स्त्री से अपने को बचाता है, वह सब से अपने को बचाता है, स्त्री कुछ नहीं है और पुरुष के लिए सब की चुनौती स्त्री के रूप में आती है ।"[69] "मुक्तिबोध" नीलिमा के चरित्र के लिए हमेशा याद किया जायेगा ।

डा. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर प्रस्तुत उपन्यास को "क्राइसिस", "तनाव" और "दुविधा" का उपन्यास मानते हैं। 70

(12) अनंतर (1968) :

इस उपन्यास में भी "मुक्तिबोध" की तरह लेखक घर-परिवार की समस्याओं को उठाते हैं। यह उपन्यास आकाशवाणी से प्रसारण के रूप में लिखा गया है। यहाँ भी लेखकीय चिंतन के कारण कथा बोझिल हुई है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि "अनंतर" लेखक के अपने व्यक्तित्व और परिवार की कहानी है। जामाता आदित्य और पुत्र प्रकाश के प्रसंग, लेखन-प्रकाशन की गुत्थियाँ, शांतिधाम की आत्मकथात्मकता का तरंजाम ऐसा ही आभास देता है। उपन्यास के नारी-पात्रों में अपरा, वन्या (वनानि), वारू और राजेश्वरी हैं। अपरा (अपराजिता) ने दुनिया देखी है। उसके रूप में जैनेन्द्र ने एक ऐसी नारी को प्रस्तुत किया है जो पश्चिम के स्वच्छंदतावाद को भरपूर रूप से भोगते-भोगते भारतीय मर्यादाओं की ओर झुकने का संकेत देती है। अंग्रेज पति चार्ल्स से तलाक लेकर मुक्त हो गई है। अब यहाँ भारत आयी है तो यहाँ के सामाजिक जीवन के विधि-निषेधों में उलझ जाती है। एक अति से दूसरे अति की यात्रा।

तो दूसरी तरफ वन्या जैसी दो टूक आदर्शवादी नारी है। वारू- राजेश्वरी पारंपरिक माँ-बेटी है। परिवार जैनेन्द्र-साहित्य में एक केन्द्रीय सरोकार है। विलायत में आठ साल के वैवाहिक और मुक्त भोग-विलास से उत्पन्न अनासक्ति भाव को लेकर अपरा आयी है। उसके सामने प्रसाद-राजेश्वरी का सुदीर्घ दाम्पत्य-जीवन है। आधुनिक दृष्टि से विचार करें तो उन दोनों में तमाम-तमाम प्रकार की विषमताओं के बावजूद उनका दाम्पत्य-जीवन प्रौढ़ और परिपक्व लगता है। इसके लिए राजेश्वरी

से भरपूर कष्ट और व्यथा को सहा है । अतः प्रसाद-रामेश्वरी की जवानी का इतिहास जब आदित्य-अपरा के बीच पुनः घटित होता हुआ दिखाई पड़ता है, तब रामेश्वरी कुछ विचलित तो होती है, पर फिर संभल जाती है । अपरा जब आदित्य के साथ बम्बई चली जाती है तब प्रसाद दम्पति को चारु को लेकर कुछ चिन्ता भी होती है । प्रसाद अपरा को फोन करते हैं । अपरा कहती है — 'आदित्य में यदि प्यार जगा है मेरे लिए, जैसा वे कहते हैं, तो मौका है कि मैं आदित्य को उठाऊं और जो डर है चारु में रक्षा के लिए उसे दूर कर दूं ।' 71

उसके बाद वह प्रसाद और चारु को अलग-अलग से पत्र लिखती है । प्रसाद वाले पत्र में वह लिखती है — 'वह मुझे चाहते हैं । ऐसी चाह में कि जिसमें कोई अपने को निछावर कर आए, ईश्वर बसता है । मैं परम कृतज्ञता और भक्ति से उस कामना के प्रति नमन करती हूं ... लेकिन पत्नी तो मैं चार्ल्स की बन गई हूं, इसलिए पुरुष को दे सकूं, ऐसा मेरे पास बचा ही क्या है ?' 72 अतः वह आशा व्यक्त करती है कि ऐसी-उस जैसी, निर्द्वन्द्व नारी के सान्निध्य में चारु का सौभाग्य सुरक्षित ही रहेगा ।

अपरा चारु को जो पत्र लिखती है उसमें सबकुछ खोलकर रख देती है । वह चारु को समझाती है कि आदित्य का मन उसकी ओर झुका है, क्योंकि वह समझते हैं कि अपरा दुर्लभ है । चारु आदित्य की ही होने के कारण सुलभ है । वह चारु को बताती है — 'चारु मुझमें चाहत होती ही नहीं है ... और वे हैरान और उदास अपने में लौट रहे हैं । चारु, हम स्त्रियों के शरीर के प्रति पुरुष में बड़ा लालच होता है । वह इसमें अपने को लेकर उसमें खो जाए । पुरुष की यह लालसा स्त्री की शक्ति बन सकती है, बशर्ते कि स्त्री, अगर चाहे

जो दीखे, भीतर ठण्डी बनी रहे ... मुझे ठण्डी होने की जरूरत नहीं होती । विलायत में इतना कुछ देखा-भोगा है कि अब चाह उपजती ही नहीं है ... न स्त्री पुरुष के लिए और न पुरुष स्त्री के लिए रोक बन सकता है । तब लालसा उनसे पार चली जाती है, अभिप्सा बन आती है और व्यक्ति अटूट बनता है ।"[73] इस प्रकार अपरा अपने अनुभव का प्रयोग आदित्य पर करती है और वह प्रयोग सफल रहता है । आदित्य चारु के पास अक्षुण्ण लौट आता है । "अनंतर" इस विलक्षण नारी की विलक्षणता का भी उपन्यास है ।

डा. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर "अनंतर" को अनेक स्वाभक्त द्वन्द्वों की टकराहट के चिंतन का उपन्यास कहते हैं । यथा — "अस्ति और नास्ति, अस्तित्व और अस्मित्व, व्यर्थता और सार्थकता, व्यवसायिक संस्कृति के मूल्य और समर्पित जीवन के मूल्य, उद्योग और नीति, काम और प्रेम, राजनीति और आत्मनीति, भोग और त्याग, नियतिवाद और कर्मवाद, बुद्धिवाद और अन्तःप्रज्ञा, शक और कर्म, गति और स्थिति, मारना और मरना, कोरा बुद्धिविलास और शारीरिक श्रम, प्रतिबद्धता और मुक्ति, भारतीय और अभारतीय ... इत्यादि कतिपय द्वन्द्व उपन्यास की सहज गति में अपनी रमणीय झलकें दिखाते चले गए हैं । इन द्वन्द्वों का रूप देखना और इन स्वाभक्त तथवा एक-दूसरे में घुला हुआ संबंध देखना अपने आप में एक बौद्धिक परितृप्ति देता है और उपन्यास की वस्तु से उसकी एकमेकता होने के कारण उपन्यास को एक विशिष्ट स्तर देता है ।

(13) अनामस्वामी (1974) :

यह उपन्यास एक दीर्घकालीन सृजनात्मक योजना की प्रस्तुति है । इसका प्रारंभ सन् 1942 में हुआ था और अन्त 1974 में । लेखक ने अपने वक्तव्य "मेरी विवशता" में

कहा है " — " सन् 1942 में इस "अनामस्वामी" का आरंभ हुआ था । प्रयाग से तब निकलने वाली "विश्ववाणी" में क्रमशः कुछ खण्ड प्रकाशित भी हुए थे । कथा का संदर्भ-मात्र मुझे अभीष्ट था, उस कथा को बढ़ाना नहीं । इसी निमित्त त्यागपत्र देने के अनंतर विरक्त बने उसके जज महोदय को मैंने फिर अपने प्रयोजन से लिया लिया । मैं बस उस बहाने अन्तर-मन की उधेड़बुन को बाहर कागज पर उतारकर छुट्टी पा लेना चाहता था । ... अब तीस वर्षों से भी ऊपर समय बीतने के बाद चि. दिलीपकुमार ने जिद की कि उसे पूरा करना होगा । हठ उनकी टल नहीं सकती थी । "[75] अतः इसके 12 परिच्छेद पहले के हैं, 24 परिच्छेद बाद के ।

"त्यागपत्र" के जज पी. दयाल के मित्र प्रबोधजी उनको मृणाल का स्मरण दिलाते हैं । अतः वे अनामस्वामी बनकर एक आश्रम स्थापित करते हैं । इस आश्रम का उद्देश्य मनुष्य को उसकी अहंकार भावना से मुक्त करना है, ताकि एक समन्वित जीवन दृष्टि के साथ वह जी सके ।

दयाल अपने बचपन के मित्र और अब अनामस्वामी की खूब प्रशंसा करते हैं । प्रशंसा क्या, एक प्रकार की श्रद्धा और भक्ति है यह । उनमें अपूर्व विश्लेषण-शक्ति है और उनकी दृष्टि बड़ी पैनी और भेदनेवाली है । वे पूर्ण निष्काम और सेवामय है । उनके आश्रम में दयाल की पुत्री उदिता आती है जो अपने प्रोफेसर शंकर उपाध्याय के व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित है । समूचा युवावर्ग उपाध्याय से प्रभावित है । वह अनामस्वामी और उनके आश्रम-जीवन में विश्वास नहीं रखता । शंकर उपाध्याय के साथ रानी वसुंधरा पी. दयाल को इसी आश्रम में मिलती है । उदिता के माध्यम से लेखक ने आज की शिक्षित युवापीढ़ी को चित्रित किया है, जो पारिवारिक मान्यताओं

और मूल्यों को बुर्जुआ समझती है । अपने नाना को लिखे पत्र में अपना दृष्टिकोण वह रखती है । उसके अनुसार प्रेम विवाह में घिरे रहने के लिए नहीं है । पिता भी अब कोई आवश्यक पद नहीं रह गया है और प्रत्येक लड़की के लिए माँ बनना भी जरूरी नहीं है । मातृत्व के बिना स्त्रीत्व अधूरा है उस थ्योरी में भी वह नहीं मानती । प्रेम की स्थिरता को भी वह नकारती है , किन्तु प्रेम में जो होता है वह इन मूल्यों से कहीं ज्यादा मूल्यवान होता है । [76]

इस तरह "अनामस्वामी" दो कथाएं समानान्तर चलती हैं — एक कथा अनामस्वामी , शंकर उपाध्याय और वसुंधरा को लेकर चली है , जिसमें अनामस्वामी और उपाध्याय के वैचारिक द्वन्द्व और उपाध्याय और वसुंधरा के प्रेम के द्वन्द्व को उकेरा गया है । दूसरी कथा उदिता की है जो आज की नयी पीढ़ी , उसके स्वैराचार और विदेशीक जीवन-पद्धति में विश्वास करती है । उदिता में एक विद्रोह का भाव भी है । उसे विवाह-संस्था पर विश्वास नहीं है और मुक्त प्रेम और उसके परीक्षण के संदर्भ में भी उसके मन में कोई हिचक या द्विधा-भाव नहीं है । उसकी तुलना में वसुंधरा एक पीढ़ी पुरानी है । वह उपाध्याय से प्रेम करती थी , किन्तु विवाह उसका अपने सहपाठी कुमार से होता है । उपाध्याय से उसका विवाह भी होनेवाला था । बहरहाल वह कुमार की पत्नी और उपाध्याय की प्रेयसी है । एक दुर्घटना में कुमार अपंग हो जाते हैं और वसुंधरा को शारीरिक प्रेम देने में असमर्थ । अतः वे वसुंधरा को उपाध्याय से सब प्रकार के संबंध रखने की स्वतंत्रता दे देते हैं । वसुंधरा में इस बात को लेकर खूब मानसिक ऊहापोह है । अंततः मन की जीत होती है और वह उपाध्याय को समर्पित भी होती है , किन्तु तब उपाध्याय उसे ठुकरा देता है । नितान्त निर्वसना वसुंधरा पर वह अट्टहास करता है । इसके बाद वसुंधरा को आत्मग्लानि

होती है और वह तहेदिल से उसे घृणा करने लगती है । इस अपमान का बदला लेने की वह ठान लेती है और उपाध्याय को बारंबार नामर्द कहकर उसे व्यंग्य बाणों से घायल करती रहती है । उसके उकसाने पर एक बार उपाध्याय जब उसे लेने के लिए उद्यत होता है , तब ऐन वक्त पर उसे थप्पड़ मारकर अपने अपमान का प्रतिशोध कर लेती है । 77

इस उपन्यास के संदर्भ में डा. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर की धारणा है —" "अनामस्वामी" दो व्यक्तियों और उन व्यक्तियों के निर्माण में योग देनेवाली दो भिन्न संस्कृतियों के के बीच की टकराहट पर आधारित रचना है । "अनामस्वामी" एक स्तर पर भिन्न मानसिकता से युक्त व्यक्तियों के बीच के तनाव की विलक्षण द्वन्द्वात्मक कथा है ; दूसरे स्तर पर वर्तमान समय में घटित होनेवाली दो भिन्न संस्कृतियों के बीच का संघर्षपूर्ण संबंध है । ... § इस प्रकार § "अनामस्वामी" व्यक्ति-दर्शन नहीं है , संस्कृति-दर्शन है और यह संस्कृति-दर्शन आधु-निकता के समस्त स्वस्थ और उपादेय तत्वों से संपृक्त है । यह एक ऐसी रचना है जिसमें विचार और चिंतन का अमूर्त रूप सगुण xxxxxxxxxxx साकार होकर अपनी गहन प्रतीति क्षमता से अभिभूत करता है ।" 78

§14§ दशार्क § 1985 § :
====================

"दशार्क" जैनेन्द्र का अंतिम उपन्यास है । इस उपन्यास के संदर्भ में स्वयं जैनेन्द्रजी ""मेरी बात " में कहते हैं :" पुस्तक का "दशार्क" नाम विचार से नहीं , संयोग से बना । आशय बाद में निकाला गया । हुआ यह कि एक बंधु ने कहा , दस कहा-नियां लिखकर देनी हैं , दीजिए वचन । ... दश तो खैर नाम में ही है , और अर्क किरण को कहते हैं , धूप रूप है ,

किरण असंख्य । सोचा कि चलो दस कहानियाँ ऐसी दी जायें कि वे दस हों , पर एक भी हों । इसलिए नाम वह "दशार्क" गाँठ बनकर मन में बैठ गया । गाँठ इसलिए कि उस शब्द के अन्त में "शार्क" की ध्वनि है । शार्क " से एक साथ दारुण-सा चित्र उभर पड़ता है । शब्द का सूझना था कि तय हो गया "शार्क" को अवतरित करना होगा ।" 79

उपन्यास की नायिका "रंजना" ही वह शार्क है । मछलियों की रानी । शिकारी रानी । डा. विष्णु खरे ने जैनेन्द्र के संदर्भ में लिखा है :" चिंतक और दार्शनिक जिज्ञासा के तहत कायदे से देखा जाए तो जैनेन्द्र को हिन्दी का एक असफल उपन्यासकार होना चाहिए था । लेकिन उन्होंने चमत्कार किया और वे भारत के सर्वाधिक चर्चित कथाकार बन गये । जैनेन्द्र मूलतः तथाकथित नारी-मन और नारी-जीवन के पहले उपन्यासकार हिन्दी में , और उनकी नारी तथा उसका मनोविज्ञान प्रेमचन्द की नारी से बिलकुल भिन्न था । प्रेमचन्द के यहाँ औरत मूलतः हिन्दू है और सती-साध्वी है । विद्रोहिणी तो बहुत ही कम हैं और हमेशा अन्याय की शिकार है । इस बात पर बहुत कम ध्यान दिया गया है कि प्रेमचन्द की कहानियों में x स्त्रियों ने बीसियों की तादाद में आत्महत्या की है जबकि जैनेन्द्र की नायिका के सारे सामाजिक ताने-बाने को तहस-नहस करने के लिए वेश्या बन जाने को भी नारी की चरितार्थता मानती है । नारी की ऐसी "अहिन्दू " "अभारतीय तस्वीर उकेरना और फिर भी साफ बच निकलना यह जैनेन्द्र के अद्भुत पराक्रमों में से एक है । लेकिन इसके लिए उन्होंने जो रणनीति अपनाई वह भाषा और शिल्प के अभूतपूर्व इस्तेमाल में छिपी हुई है । अधिकांश हिन्दी साहित्यकार अपनी पिली-पिली भावुकता और बौद्धिक दारिद्र्य को छिपाने के लिए "प्रगीतात्मक" भाषा का×xxxxxxxxxxxx×हैं इस्तेमाल करते हैं । जैनेन्द्र ने बम को मखमल में लपेटने का काम किया । उन्होंने एक ऐसा गद्य लिया

जो बहुत मृदु , कोमल यहां तक कि स्त्रैण भी लग सकता×है था । लेकिन उसके जरिए उन्होंने ऐसी नारी पात्रों के लिए सहानुभूति, समझ और स्वीकार अर्जित किए , जिन्हें ज़ोला या ~~कुप्रिन~~× कुप्रिन की शैली में ~~मिले~~ सिर्फ़ जुगुप्सा और तिरस्कार ही मिलता ।" [80] रंजना एक ऐसी नारी है जो समर्थ से समर्थ कथाकार के लिए चुनौती हो सकती है । "जिस्मफरोशी" तो सुना है पर "इश्कफरोशी" की बात कुछ अनहोनी-सी लगती है ।

रंजना जैनेन्द्र के अब तक के पात्रों में बिलकुल विलक्षण है । शार्क है । दशार्क की रंजना को लेकर भी सुनीता की हिन्दी उपन्यास-जगत में कई सवाल खड़े हुए और लेखक को भी उन सवालों के रूबरू होना पड़ा । उनसे पूछा गया —" क्या रंजना के रूप में आपने एक वेश्या को ही सम्मान देने की कोशिश नहीं की है ? क्या कालगर्ल को आप प्रतिष्ठित करना चाहते हैं ? जैनेन्द्र का उत्तर है— रंजना न वेश्या है न कालगर्ल । [81]

रंजना का अपने पूर्व-जीवन का नाम था — सरस्वती । वह युनिवर्सिटी में टॉप किए ऐसे एक बुद्धि-संपन्न लेक्चरर की पत्नी थी । सात साल तक पत्नीत्व को निभाया , एक पुत्र की मां भी बनी , किन्तु जब देखा कि विवाह निभना मुश्किल होता जा रहा है तो उसे जबरदस्ती खींचते जाने की अपेक्षा उसे त्यागना ही श्रेयस्कर होगा और वह रंजना बन गई । शेफाली जो एक सामाजिक कार्यकर्त्री है , उसके सम्मुख एक वार्ता में वह कहती है :

" हम स्त्रियों के प्रति अगर पुरुष में आकर्षण सिरजा गया है तो स्त्री मूर्ख होगी अगर वह लाभ उठाने की न सोचे । पत्नी बनकर स्त्री वह अवसर खो देती है । वश में आ जाने के बाद आकर्षण समाप्त हो जाता है और स्त्री को जो शक्ति परमेश्वर की ओर से मिली है , वो चुथा जाती है । कानून तो पुरुषों का बनाया है । इसीलिए मुझे लाइन बोर्ड की जरूरत हुई । देखिए न , कानून यों अवैध ठहराता है , पुरुष उसी की अभ्यर्थना के लिए

लिया चला आता है । इसलिए मैं अगर पुरुष की आदर्शवादिता की बहक में न आकर , उसकी वास्तविकता को पहचानती और उसका आदर करती हूँ तो उसमें क्या अन्यथा है । पुरुष को यदि रंजन चाहिए तो उसीके हित में क्यों न मुझे रंजना बन जाना चाहिए ?"[81, 82]

"दशार्क" की दूसरी सशक्त नारी है पारमिता जो रंजना का ही दूसरा रूप है । शिक्षिता है और प्रेम में आहत होकर हिंसा के मार्ग पर चल पड़ती है । "विवर्त" के जितेन का प्रतिपक्षी नारी-चरित्र पारमिता है । उसका किसीमें विश्वास नहीं है — न ईश्वर में , न समाज में , न घर-गृहस्थी में । रंजना और मधु के स्नेहिल व्यक्तित्व से उसकी गाँठ कुछ-कुछ पिघलने लगती है । इधर रंजना भी निर्वैयक्तिक संबंधों से उकताने लगती है और पुनः अपनी गृहस्थी में लौटना चाहती है । डा. निर्मला शर्मा के मतानुसार —

"नारी चाहे जैसा उन्मुक्त जीवन जिए वह निर्वैयक्तिक संबंधों से ऊब जाती है । उसकी सहज प्रकृति स्नेह की अपनी छोटी-सी दुनिया में रमे रहने की है किन्तु इसके लिए पुरुष को उसका एहसान मानना होगा , उसे मान देना होगा , किन्तु पुरुष की प्रकृति अभी भी उस पर अपने अहं को थोपने , उसे वस्तु समझने और अपने लिए सब प्रकार की छूट लेकर उसे बंधनों में जकड़ने की है । रंजना जैसी नारी यहीं विद्रोह कर उठती है ।"[83]
यही रंजना के चरित्र का सार और इस उपन्यास का कथ्य और लक्ष्य है ।

निष्कर्ष :

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं :—

{1} पात्र कथावस्तु की निपज होते हैं । कथा पात्रों का निर्माण करती है , तो कई बार पात्र भी कथा को मोड़ देते हैं ।

इस प्रकार उपन्यास के ये दोनों तत्व परस्परावलंबित हैं और इसीलिए पात्रों पर विचार करने के पूर्व उसके कथ्य पर विचार करना आवश्यक हो जाता है ।

§2§ प्रेमचन्द के उपन्यासों में सेवासदन , वरदान , प्रतिज्ञा, निर्मला , गबन , प्रेमाश्रम , कायाकल्प , कर्मभूमि×है , रंगभूमि , गोदान , मंगलसूत्र § अपूर्ण § आदि मुख्य हैं ; तो जैनेन्द्र के उपन्यासों में परख , स्पर्द्धा , तपोभूमि , सुनीता , त्यागपत्र , कल्याणी , सुखदा , विवर्त , व्यतीत , जयवर्द्धन , अनंतर , अनामस्वामी , मुक्ति-बोध , दशार्क आदि हैं ।

§3§प्रेमचन्द के उपन्यासों के कथ्य में उनकी यथार्थधर्मिता के दर्शन होते हैं । उनकी वस्तुनिष्ठ दृष्टि तथा सोद्देश्यता के दर्शन होते हैं । अतः उनमें सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं का निरूपण प्रमुख रूप धारण करता है । उन्होंने अपने उपन्यासों में देश और समाज में व्याप्त चतुर्दिक शोषण को अपने कथानकों के केन्द्र में रखा है । किसानों और मजदूरों का शोषण , दलितों का शोषण , स्त्रियों का शोषण , दलित स्त्रियों का शोषण ,वेश्या-समस्या , अनमेल-ब्याह , वृद्ध-विवाह की समस्या , दहेज समस्या , नारी-शिक्षा की समस्या , महाजनी सभ्यता का विरोध , स्वाधीनता-संग्राम और उसके सरोकार , अस्पृश्यता की समस्या , किसानों के ऋण की समस्या , पूंजीवाद के बढ़ते प्रभाव , राजनीतिक दोगलापन , भारत के भविष्य की चिन्ता जैसे सामाजिक सरोकार प्रेमचन्द के उपन्यासों में उपलब्ध होते हैं ।

§4§ जैनेन्द्र के उपन्यासों में प्रायः मानवीय रिश्तों और संबंधों का सूक्ष्म निरूपण मिलता है । समस्याएँ यहां भी हैं किन्तु वे जटिल , मानसिक और गहरी हैं । समाज , व्यक्ति, प्रेम , विवाह , हिंसा-अहिंसा , वैयक्तिक अहं , इस अहं के

चलते पति-पत्नी के संबंध , स्त्री-पुरुष के संबंध , प्रेमी-प्रेयसी के संबंध , ईर्ष्या-द्वेष आदि मानवीय भावों का सूक्ष्म अंकन , पति-पत्नी के शीत-संबंध , आत्मपीड़क और परपीड़क व्यक्तित्व जैसे मानवीय और मनोवैज्ञानिक सरोकार जैनेन्द्र के उपन्यासों के कथानक के केन्द्र में रहे हैं । प्रेमचन्द के उपन्यासों के केन्द्र में समाज होता है । जैनेन्द्र के उपन्यासों के केन्द्र में "घर " होता है ।

{5} प्रेमचन्द में प्रायः औसत ग्रामीण समाज मिलता है । जैनेन्द्र में प्रायः नगरीय और विशिष्ट समाज मिलता है । प्रेमचन्द बाह्य-सामाजिक यथार्थ के कथाकार हैं , जैनेन्द्र आंतरिक यथार्थ-चैतसिक यथार्थ तथा संभावनाओं के कथाकार हैं ।

====== XXXXXX ======

:: सन्दर्भानुक्रम ::

§1§ युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 14 ।

§2§ सेवासदन : प्रेमचन्द : पृ. 7 ।

§3§ वही : पृ. 192 ।

§4§ युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 12 ।

§5§ वही : पृ. 13 ।

§6§ उद्धृत द्वारा : डा. हंसराज रहबर : " प्रेमचन्द : जीवन कला और कृतित्व : पृ. 169 ।

§7§ युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 13 ।

§8§ निर्मला : प्रेमचन्द : पृ. 153 ।

§9§ युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 18 ।

§10§ "प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार " : डा. मन्मथनाथ गुप्त : पृ. 272-289 ।

§11§ युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 18 ।

§12§ हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डा. एस.एन. गणेशन : पृ. 68 ।

§13§ युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 18 ।

§14§ प्रेमचन्द और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 28 ।

§15§ युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 75-76 ।

§16§ वही××× वही : पृ. 81-82 ।

§17§ हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : पृ. 68 ।

§18§ " प्रेमचन्द : जीवन कला और कृतित्व " : डा. हंसराज रहबर : पृ. 188 ।

§19§ हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : पृ. 68 ।

§20§ " प्रेमचन्द : एक विवेचन " : डा इन्द्रनाथ मदान : पृ. 94 ।

§21§ प्रेमचन्दयुग का हिन्दी उपन्यास : डा. मोहनलाल रत्नाकर : पृ. 136 ।

§22§ प्रेमचन्द और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 115 ।

§23§ प्रेमचन्द और गोर्की : सं. शचिरानी गुर्टू : पृ. 257 ।

§24§ " प्रेमचन्द : एक विवेचन " : डा. इन्द्रनाथ मदान : पृ. 96 ।

§25§ कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 652 ।

§26§ युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 21 ।

§27§ आज का हिन्दी उपन्यास : डा. इन्द्रनाथ मदान : पृ. 9-10 ।

§28§ युगनिर्माता ... कुछ निबंध : पृ. 24 ।

§29§ गोदान : प्रेमचन्द : पृ. 57 ।

§30§ वही : पृ. 23 ।

§31§ वही : पृ. 365 ।

§32§ आधुनिक साहित्य : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : पृ. 194-197 ।

§33§ युगनिर्माता ... कुछ निबंध : पृ. 22 ।

§34§ गोदान : पृ. 253 ।

§35§ वही : पृ. 253 ।

§36§ x " उपन्यास " शीर्षक लेख : साहित्य संदेश : मार्च- 1940 ।

§37§ [illegible] समीक्षायण : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 115 ।

§38§ द्रष्टव्य : "परख" उपन्यास की भूमिका : जैनेन्द्र ।

§39§ हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परंपरा में साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 99 ।

§40§ वही : पृ. 100 ।

§41§ परख : जैनेन्द्र : पृ.

§42§ साहित्य का श्रेय और प्रेय : जैनेन्द्र : पृ. 13 ।

§43§ प्रेमचन्दयुग का हिन्दी उपन्यास : डा. मोहनलाल रत्नाकर : पृ. 174 ।

§44§ हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परंपरा में साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : पृ. 100 ।

§45§ सुनीता : जैनेन्द्र : पृ. 176 ।

(46) तपोभूमि : जैनेन्द्र- ऋषभचरण जैन : भूमिका से ।
(47) जैनेन्द्र और उनके उपन्यास : डा. रघुनाथशरण झालानी : पृ. 67 ।
(48) त्यागपत्र : पृ. 64 ।
(49) वही : पृ. 40 ।
(50) वही : पृ. 7 ।
(51) कल्याणी : पृ. 16 ।
(52) वही : पृ. 48 ।
(53) वही : पृ. 88 ।
(54) जैनेन्द्र और उनके उपन्यास : पृ. 78 ।
(55) सुखदा : पृ. 71 ।
(56) वही : पृ. 10 ।
(57) विवर्त : पृ. 07 ।
(58) शरद एवं जैनेन्द्र के उपन्यासों में वस्तु एवं शिल्प : डा. निर्मला शर्मा : पृ. 113 ।
(59) जयवर्द्धन : पृ. 132 ।
(60) वही : पृ. 128 ।
(61) वही : पृ. 129 ।
(62) द्रष्टव्य : जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोविज्ञानपरक और शैली-तात्विक अध्ययन : डा. लक्ष्मीकान्त शर्मा : पृ. 12 ।
(63) मुक्तिबोध : पृ. 108 ।
(64) वही : पृ. 106 ।
(65) वही : प्रकाशकीय वक्तव्य ।
(66) जैनेन्द्र की उपन्यास-यात्रा का एक नया मोड़ : साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 23 मई, 1965 ।
(67) मुक्तिबोध : पृ. 35 ।
(68) वही : पृ. 66 ।
(69) वही : 90 ।
(70) द्रष्टव्य : " जैनेन्द्र के उपन्यास : मर्म की तलाश " : डा. चन्द्रकान्त बांदिवड़ेकर : पृ. 90-96 ।

(71) अनंतर : पृ. 112 ।

(72) वही : पृ. 118 ।

(73) वही : पृ. 144 ।

(74) द्रष्टव्य : " जैनेन्द्र के उपन्यास: मर्म की तलाश " : डा. चन्द्रकान्त बांदिवड़ेकर : पृ. 122 ।

(75) अनामस्वामी : "मेरी विवशता " — लेखकीय वक्तव्य ।

(76) द्रष्टव्य : वही : पृ. 50-51 ।

(77) द्रष्टव्य : वही : पृ. 128 ।

(78) " जैनेन्द्र के उपन्यास : मर्म की तलाश " : पृ. 111-121 ।

(79) दशार्क : मेरी बात से ।

(80) "दशार्क" के फ्लैप पर दिया गया डा. विष्णु खरे का वक्तव्य ।

(81) जैनेन्द्र से साक्षात्कार : सारिका : 1 , सितम्बर , 1983 ।

(82) दशार्क : पृ. 55-56 ।

(83) शरत् एवं जैनेन्द्र के उपन्यासों में वस्तु एवं शिल्प : डा. निर्मला शर्मा : पृ. 221 ।

====== XXXXXX ======